“प्रसाद का नाट्य-निर्माण”

श्री जयशंकर ‘प्रसाद’ के नाट्य-साहित्य पर

विभिन्न दृष्टिकोणों सहित

मौलिक विस्तृत विवेचनात्मक ग्रन्थ

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक’—
पं० दामोदरदास द्विवेदी
श्री मध्य भारत हिन्दी-साहित्य-समिति प्रेस, इन्दौर.

हिन्दी के तीन प्रमुख नाट्यकार

भारतेंदु बाबू का नाट्य-साहित्य

हिंदी-साहित्य का प्रारम्भ ऐसे समय हुआ जब संस्कृत एवं प्राकृत का नाट्य-साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुँच कर अवनति की ओर अग्रसर हो गया था। उसमे विद्वत्ता एवं विकृति ने स्थान कर लिया था। फिर उन रचनाओं के खेले जाने के साधन प्राय लुप्त हो चुके थे। मुस्लिम वाह्य आक्रमणों ने इस काल के लिये कोई क्षेत्र नहीं रहने दिया था। वह एक सक्रांति काल था। फलतः ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कोई उल्लेखनीय नाटक-रचना हमें प्राप्त नहीं होती। हाँ, नाटक-नामक कतिपय कविता-नाटक जो महाकवि तुलसी कृत रामचरित-मानस एव सूरदासजी के कृष्ण-वर्णन के आदर्श और अनुकरण पर लिखे गये अवश्य प्राप्त होते हैं।

पूर्व भारतेंदु-काल की स्थिति एव नाटक

बात यह थी कि ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् भारत पराधीनता की बेडियों में अधिकाधिक जकड़ाता गया। उसका न केवल राजनीतिक जीवन ही किन्तु सामाजिक और धार्मिक, गार्हस्थ्य और दैनिक जीवन भी सकटपूर्ण, आपत्तियों से घिरा हुआ और युद्ध समन्वित हो गया। वह एक ऐसी अवस्था थी कि एक भारतीय उस समय सुख की स्वाँस नहीं ले सकता था। यद्यपि प्रारम्भ में एक अवधि के पश्चात ही आक्रमण होते थे किंतु उन आक्रमणों की रोक की तैयारी में, उनकी आशंका में ही भारत उस समय व्यस्त था। इसलिये उसके जीवन से उस समय

मनोरंजन की भावना प्राय लुप्त हो गई थी। यह एक ऐसी भावना है जो नाट्य-साहित्य को जीवन देती रहती है; उसके विकास में, वृद्धि में सहायक हुआ करती है। अतएव जब यह भावना ही मर रही थी तब हिंदी-नाट्य-साहित्य किस प्रकार पनप सकता या फल-फूल सकता था?

बाद मे आवश्यकताओं और शासन की स्थिरता ने हिन्दी-साहित्य में विश्व-कवि सूर और तुलसी की अमर रचनाओ का प्रादुर्भाव किया। उनकी रचनाओं का न केवल हिन्दी साहित्य पर अपितु भारतीय साहित्य पर भी अमिट और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इनके पश्चात् का हिंदी-साहित्य इन्हीं का आदर्श और अनुकरण है। इन्हीं के साहित्य की व्यापक झलक, व्यक्तीकरण है। इन्हीं के भावों एवं भावनाओं का वितरण और ग्रहण है। इसीलिये भारतेन्दु बाबू के पहिले जो हिन्दी की मौलिक नाट्य-रचनाएँ हुई हैं वे रामलीला और रासलीला के आधार पर और अनुकरण पर हुईं, क्योंकि सूर-तुलसी के इस व्यापक प्रभाव का फल यह पड़ा कि जब देश में श्मशान-शान्ति के समान शान्ति हुई, कुछ स्थिरता और निश्चितता कुछ अंशो में आई, तब जनता की वही मृत मनोरंजन भावना पुनः जीवित हुई। फलतः कविता-नाट्य-रचनाएँ लिखी गईं। इनका आदर्श रासलीला और कृष्णलीलाएँ थीं। इनके लेखकों के नाटक भी छन्दोबद्ध होते थे। क्योंकि सूर और तुलसी की रचनाएँ ऐसे भाव-चित्र हैं और उनमें कथोपकथन के तत्व की इतनी प्रचुरता है कि यदि उन्हें कविता-नाटक की संज्ञा दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं! 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'समयसार' आदि नाटक इसी कोटि में आते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह के नाटक इस श्रेणी में नहीं आ सकने क्योकि वे सस्कृत के अनुवाद हैं, मौलिक रचनाएँ नहीं। किंतु हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर विचार करते समय उनके अनुवादो पर इसलिये ध्यान जाता ही है कि उक्त राजा साहब नाटक की मूल भावना

को समझ सके थे। सूक्ष्म रूप से उनके मस्तिष्क में यह बात अवश्य रही होगी कि जो कविता-नाटक, रामलीला और कृष्णलीला के अनुकरण पर बने हैं वे वास्तव में नाटक नहीं हैं और हिंदी-साहित्य को अब 'कम्पनी महाराज' के शासन की स्थिरता में नाटको की मनोरंजन की आवश्यकता है और चूँकि वह हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था थी जो प्राय अनुवादों से ही शुरू होती है उन्होंने अनुवाद की ओर ही ध्यान दिया। प्रारम्भ में उत्तम रचनाओं के लिखने की क्षमता का अभाव भी प्रायः रहा ही करता है और उच्च कोटि की रचनाओं के पहिले जीवित अथवा मृत ऐसी रचनाएँ अवश्य रहती हैं जिनको देख कर, जिनके दोषों और गुणों का मानसिक विश्लेषण कर कोई महान् कलाकार अमर कृतिएँ देता है। इसलिये राजा लक्ष्मणसिंहजी के अनुवाद हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रारम्भिकावस्था सूचित करते हैं। उनका उद्देश्य नाटकानुवाद के साथ एक विशिष्ट भाषा का नमूना भी उपस्थित करने का था।

इस प्रकार जब भारतेंदु बाबू ने नाटक-लेखन प्रारम्भ किया तब उनके सामने न कोई आदर्श था और न उदाहरण जिसको दृष्टि में रख वे आगे बढ़ सकते। इस समय तक भारतीय रंग-मंचों का भी सर्वथा अभाव था। जनता केवल 'यात्रा', 'कीर्तन', 'रामलीला', एवं 'रास-लीला' आदि के ढंग पर नाटकीय प्रदर्शन प्राप्त करती और इन्हीं के अनुरूप अस्थायी रंग-मंच तैयार किये जाते थे और इन्हीं से उसे संतुष्ट होना पड़ता था। कवि 'देव' कृत 'देव-प्रपंच', 'माया-नाटक', नेवाज कृत 'शकुंतला', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' या ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटकों के साथ नाटक शब्द हैं किन्तु इनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। गिरिधरदास, भारतेंदु बाबू के पिता, का लिखा हुआ 'नहुप-नाटक' जिसे स्वयं भारतेंदु हिन्दी का

पहिला नाटक मानते हैं ब्रज-भाषा में है। हाँ, नाटक की श्रेणी में आने-वाले केवल राजा लक्ष्मणसिंह के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' आदि अनुवाद-नाटक अवश्य थे किंतु इस प्रकार के नाटकों का प्रचलन, उनकी शैली का ग्रहण इस समय जब कि बंग-साहित्य पाश्चात्य ढंग की प्रणाली पर एक नवीन शैली को जन्म दे रहा था अश्रेयस्कर होता, आकस्मिक, और समय और जनता की रुचि के विरुद्ध होता। साथ ही कतिपय पारसी कम्पनियों ने पाश्चात्य ढंग, असाहित्यिकता, कुरुचि, एवं नाटकीय विकृति को ग्रहण कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन प्रणाली पर—यद्यपि वह पर्याप्त, परिमार्जित, अनुभवित थी—नाटक लिखना कभी रुचि पर नहीं होता। दूसरी बात इन नाटकों की भाषा के संबंध में भी स्मरण रखने योग्य है। इनमें ब्रजभाषा के शब्दों का बाहुल्य है। राजा लक्ष्मण-सिंह के नाटकों में भी ब्रजभाषा काव्योपयोगी अप्रचलित शब्द हैं और उर्दू अथवा उस समय की प्रचलित भाषा के शब्दों को जान बूझ कर दूर रखने की चेष्टा की गई है। इससे जहाँ भाषा मधुर और शुद्ध हिन्दी कहलाने योग्य हो सकी है वहाँ वह जनोपयोगी भाषा से, जिसकी नाटकों में विशेष आवश्यकता और उपयोगिता रहती है, दूर हो गई है। भारतेन्दु बाबू के आदर्श के यह विपरीत बात थी क्योंकि उनका उद्देश्य केवल नाटक लिखना ही नहीं था किन्तु अपने पूर्व के लेखकों—जैसे विशेषकर राजा शिवप्रसाद एवं राजा लक्ष्मणसिंह जो कि विरोधी स्कूलों के लेखक थे की रचनाओं का परिमार्जन कर एक सर्वसम्मत प्रचलित भाषा का प्रादुर्भाव भी करना था। राजा शिवप्रसाद उर्दू मिश्रित, अरबी-फारसी शब्द बाहुल्य युक्त भाषा का प्रयोग करते और राजा लक्ष्मणसिंह अरबी-फारसी शब्द रहित शुद्ध भाषा का। इन दोनों प्रकार की भाषाओं के रूप ग्रहण करना संभव नहीं था यद्यपि वे साहित्यिक हो सकती थीं।

इसलिए जब भारतेंदु बाबू पर एक नाटक-लेखक की दृष्टि से हम विचार करते हैं तब हमें उक्त परिस्थिति एवं उनके उद्देश्य को नहीं भूल जाना चाहिए। भारतेन्दु बाबू तो उस समय के हिन्दी-नाट्य-साहित्य के समक्ष आदर्श और उदाहरण रख रहे थे जिसका अनुकरण, वृद्धि, विकास करना एवं पूर्ण कलात्मक रूप देना उनके तत्कालीन अन्य लेखकों एवं बाद में होनेवाले लेखकों का काम था। उनका उद्देश्य नाटक-लेखन के अतिरिक्त प्रहसन, गीतिरूपक, नाट्यरासक आदि नाटक प्रकारों के उदाहरण सामने रखने का भी था जिसका अनुकरण उनके बाद के लेखक करें। ऐसी अस्पष्ट भावना अवश्य उनमें थी। इसीलिए विभिन्न प्रकार की नाट्यरचनाएँ उन्होंने लिखीं और प्रारम्भ में अनुवाद कीं। जब संस्कृत नाटकों के अनुवाद से भी उनको अपनी इच्छा पूर्ति होते दिखाई नहीं दी तो उन्होंने जहाँ से और जैसे हो सका हिन्दी-नाट्य-साहित्य की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि इस लेखक को, इस सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न लेखक को जिसके रोम-रोम में भारत और हिन्दी-साहित्य समाया हुआ था इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। वह अपने छोटे से जीवन में हिन्दी-साहित्य को इतना संपन्न कर देना चाहता था कि वह बंग-साहित्य और पाश्चात्य-साहित्य के समकक्ष शीघ्र हो सके और यदि उसी के समान प्रतिभाशाली कुछ लेखक और हुए होते तो अवश्य उसके बाद शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य भी रंक न रह जाता। जिन अभावों के लिए हमें दुःख होता है उनकी पूर्ति बहुत पहिले हो गई होती। इस महान् लेखक ने न केवल नाटक लिखे, अपितु निबंध लिखे, कविता लिखी, इतिहास लिखा, ऐतिहासिक खोज की और उसके वश रहते क्या नहीं किया? इसीलिए भारतेंदु के अल्पकालीन नन्हे जीवन पर जब हम

भारतेंदु बाबू की नाट्य-कला का विवेचन

ध्यान देते हैं तब उनकी रचनाओं में पायेजानेवाले समस्त दोष हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उसके समक्ष सहसा हमारा मस्तक नत हो जाता है।

भारतेंदु बाबू की नाट्य रचनाओं पर विचार करते हुए उनकी रचनाओं में हम शास्त्रीय दोषो को देखकर चौंकें नहीं। ससार के शुरू से यही चला आ रहा है कि प्रथम रचनाओं की सृष्टि होती है, क्रमशः उन्नति होती रहती है और उनके पश्चात् उन्ही के गुण-दोषों को देखकर अनुभव कर कतिपय सर्व सम्मत नियमों को जो मानव-प्रकृति और मस्तिष्क के अनुकूल हो, देश काल का जिनमें व्याघात पैदा न हो सके, निर्माण किया जाता है। फिर हिंदी साहित्य में तो नाट्य-रचनाएँ ही नहीं थीं, शास्त्रीय विवेचन और नियम कहाँ से आते? रगमच ही न थे, फिर प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता था? सस्कृत-वंग अथवा आंग्ल भाषा के साहित्यों की ओर लक्ष्य कर हम उनकी रचनाओं में दोषों का प्रादुर्भाव करें यह उचित प्रतीत नहीं होता। ससार की प्रारभिक अवस्था में जैसा मैं पहिले लिख चुका हूँ और जब कि नाट्य रचनाओं को साहित्यिक रूप भी प्राप्त नहीं हुआ था तब तो लोग रात-रात भर एक-एक दो-दो दिन की ही घटनाओं को देखा करते और संतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ करते थे। आज भी गाँवों में ग्राम्यबन्धु साधारण सी घटनाओं के प्रदर्शन, अत्यंत साधारण मनोरजन (हम नागरिकों की दृष्टियों से यदि विचार किया जाय) के लिये गाते-गाते, अत्यत साधारण नाटकीय प्रदर्शन करते-करते रात-रात भर बिता देते हैं। उनके सामने ही पात्र वेष-भूषा सजते उसे भी ग्राह्य समझ लेते हैं। बालकों में भी यही प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है। यह बाल-प्रवृत्ति के नाम से साहित्य में पुकारी जानी चाहिये और उस समय के उनके द्वारा ही नवोदय साहित्य में यदि इस प्रकार बाल-प्रवृति दिखाई दे तो वह दोष

नहीं प्रत्युत विकास की एक प्रारंभिक अवस्था मानी जानी चाहिये। यह अवश्य है कि भारतेंदु बाबू ने नाटकों पर निबंध भी लिखा अथवा लिखवाया है; किंतु यह भी प्रसिद्ध है कि वह निबंध उनका लिखा हुआ नहीं है। जैसे वे नाटक लिखकर पथ प्रदर्शन करना चाहते थे और नमूने की रचनाएँ उपस्थित करने का ध्येय रखते थे उसी भाँति किसी काशी के पंडित से ऐसी जन श्रुति है उन्होंने वह निबंध इसलिये लिवाया था कि हिन्दी के नाटक लेखकों के समक्ष कतिपय शास्त्रीय नियम भी हों ताकि भविष्य में उनका उपयोग कर वे हिंदी साहित्य को अधिक पुष्ट कर सकें।

भारतेंदु बाबू का अनुकरण एवं तत्कालीन लेखक

भारतेंदु के पश्चात् प्रायः प्रत्येक लेखक ने नाटक-लेखन की चेष्टा की। लाला सीताराम ने अनुवाद करने का असफल प्रयास किया, किंतु हिंदी साहित्य में उनके पश्चात् एक ऐसी खाई दिखाई देती है जो यह प्रकट करती है कि उनके पश्चात् कुछ अंशों में पं बदरीनाथ भट्ट को एवं कतिपय स्फुट साहित्य रचनाओं को छोड़कर 'प्रसाद' तक कोई समर्थ और सफल नाटक लेखक नहीं हुआ जिससे हिंदी नाट्य-साहित्य गौरवान्वित हो सकता। उनके पश्चात् तो विकास के स्थान पर ह्रास होना प्रारंभ हो गया। इसीलिये हिंदी नाट्य-साहित्य का विकास बड़े ही अस्वाभाविक बेढंगे तौर पर हुआ। उसमें विकास की न तो एक धारा मिलती है और न व्यवस्थित क्रम ही। आगे पं० बद्रीनाथ भट्ट भी इसीलिये नाट्य-साहित्य की ओर अग्रसर होकर भी उसकी उन्नति न कर सके, विकास के आगे के सोपान पर न पहुँच सके और कंपनियों के नाटकों का अनुकरण कर केवल एक नन्ही सी परिमार्जित रुचि का दिग्दर्शन करा सके। नाटक लिखने ही के लिये नाटक लिख सके और कला का उज्ज्वल रूप, प्रकट न कर सके। इसीलिये

'प्रसाद' सा महान कलाकार भी दृश्य-काव्य की सृष्टि करने जाकर श्रव्य-काव्य की ओर अग्रसर हो गया और ऐसी रचनाएँ हिंदी साहित्य को दे गया जिनका अनुकरण एक समय तक विकास का विरोधी हुआ। उसका अपना और विशिष्ट स्थान अवश्य रहेगा किंतु उसके आदर्श और अनुकरण पर नाटकों की सृष्टि कम हुई और होगी।

भारतेंदु बाबू के दोषों का विवेचन एवं निराकरण

भावों के प्रकाशन के लिये भाषा का क्षमता शाली होना भी आवश्यक है। जब तक भाषा में बल नहीं आता, भाव प्रकाशन का सामर्थ्य पैदा नहीं होता, तब तक कला की चरमाभिव्यक्ति, मनोदशा का यथार्थ चित्रण, आंतरिक, हृदय गत विशिष्टताओं का विश्लेषण, मानवी भावों का स्पष्टीकरण और प्रकटी करण प्राय. असंभव रहता है। उदाहरणवत श्रद्धेय द्विवेदी जी की रचनाओं पर विचार कीजिये। उनकी कविता, निबंधों एवं भाव प्रकाशन को देखिये और उनकी तुलना आज की उन्हीं बातों से कीजिये तो स्पष्ट पता लगेगा कि उनमें कितना अंतर है। किंतु द्विवेदी जी ने कितना किस रूप में और किस समय किया, और उनके पहिले की अवस्था का जब हम विचार करते है तो हमें उनका महत्व विदित होता है। यही बात भारतेंदु बाबू के बारे में भी कही जा सकती है। कला की चरमाभिव्यक्ति उनमे नहीं मिलती। बाल शिक्षा और मनोरंजन की प्रवृत्तिएँ ही उनकी रचनाओं में मिलती है जो कि स्वाभाविक हैं। टेकनिक की दृष्टि से प्राचीन अथवा आधुनिक—उनमें कई त्रुटिएँ मिलती हैं इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि संस्कृत में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री थी, पर्याप्त साहित्य था अथवा पाश्चात्य प्रणालिएँ उन्नत हो गई थी और उनमें प्रौढ़, विकसित और कलात्मक साहित्य था और इसीलिये भारतेंदु दोषी है। इन प्रणालियों से, नियमों

से अनभिज्ञ ठहरावें । अन्य भाषाओं में साहित्य और शास्त्रीय नियमों के होते हुए भी स्वभाषा में उनका उपयोग और सामंजस्य सहसा और शीघ्र हो जाना सम्भव नहीं होता । यदि कोई लेखक करना चाहे तो उसका उस समय का प्रयत्न बेकार सा सिद्ध होता है जिसे कहीं से प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता । इनका सर्वथा ग्रहण एकदम नहीं किया जा सकता । यदि ऐसा हो सके तो विकास जिसे हम कहते हैं उसका अस्तित्व ही मिट जावे । अतएव इन सब त्रुटियों पर केवल इसीलिये विचार नहीं किया जा सकता चूँकि उस समय आंग्ल अथवा बंग-साहित्य काफी उन्नत हो चुका था । यदि आंग्ल तथा बंग-साहित्य उन्नत हो चुका था तो उनके पाठकों के विचार-स्तर भी काफी ऊँचे उठ चुके थे । उस समय हिंदी में तो पाठकों की ही कमी थी । हाँ, उनमें नवीन साहित्य के प्रचार के कारण वृद्धि अवश्य हो रही थी । इसलिये हमें भारतेंदु के नाट्य-साहित्य का विश्लेषण करते समय उनमें पाई जानेवाली प्रवृत्तिएँ ही देखना चाहिये और यह कि वे कितनी स्वाभाविक, सामयिक और विकासानुगामी हैं ।

भारतेंदु बाबू में बाल-मनोरंजन एवं शिक्षात्मक प्रवृत्तिएँ

बालकों में स्वभावतः ही यह देखा जाता है कि वे साधारण, निम्न-कोटि की बातों से ही अधिक प्रसन्न होते हैं । उन्हें साधारण मनोरंजन और खिलवाड़ की ही आवश्यकता होती है । विशेषकर ऐसे मनोरंजन और अनुकरण अथवा नकल की बातों को जिन्हें वे संसार में पाते हैं, जब वे अभिनय में देखते हैं तो प्रसन्न हो उठते हैं । संसार के आद्य-काल से साहित्य की यही बाल्यावस्था रही है और किसी भी साहित्य में यह देखी जा सकती है । साहित्य की यही बाल्यावस्था हमें भारतेन्दु बाबू में भी प्राप्त होती है । धीरे-धीरे जैसे बालक बड़ा होता

जाता है उसमें शिक्षात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती जाती है। उसी प्रकार साहित्य में भी शिक्षात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। साहित्य की इस अवस्था में कलात्मक प्रवृत्ति, अलक्षित, अस्पष्ट होती है; विद्यमान वह अवश्य रहती है। इसीलिए भारतेंदु बाबू के नाट्य-साहित्य में बाल-मनोरंजन एवं शिक्षा की प्रवृत्तिएँ ही पाई जाती हैं। कलात्मक प्रवृत्ति अलक्षित और अस्पष्ट है। यह एक आश्चर्य की बात है कि हिन्दी नाट्य साहित्य के आदि प्रवर्तक होते हुए भी कलात्मक प्रवृत्ति उनमें इतनी अधिक पाई जाती है। कदाचित् इसका कारण, श्रेय उनकी प्रतिभा और संस्कृत एवं बंग-साहित्य के अनुशीलन को है।

किसी भी साहित्य के प्रारंभ में एक बात और देखी जाती है और वह यह है कि उसके प्रवर्तक इस समय बाह्यरूप का ही चित्रण करते हैं या कर सकते हैं। भारतेंदुजी ने भी यही किया है। इसका होना सर्वथा स्वाभाविक है, दोष नहीं।

भारतेन्दु बाबू में इन्हीं प्रवृत्तियों के समान स्वविचार-प्रकाशन की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मे इन्हीं प्रारंभिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन होता है। इसमें स्थान स्थान पर संस्कृत श्लोकों की भरमार है

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

जो हिंसा के समर्थन में दिये गये हैं। ये नाटकीय दृष्टि से अरोचक हैं। इसमें प्रयुक्त तो हुए हैं मनोरंजन एवं विनोद की सामग्री के लिए किन्तु वे नाट्य-वस्तु की रस-संचरण-शक्ति के वेग को कम करनेवाले हैं। उनसे, कथोपकथन से, थोड़ा-सा विनोद तो होता है किन्तु हैं वे बड़े शिथिल। रस-परिपाक हो ही नहीं पाता है।

माँस-भक्षण सदृश विषय उठाकर यद्यपि विनोद की सामग्री अवश्य प्रस्तुत की गई है किन्तु वह बड़ी ही अव्यापक और निम्न-कोटि की है

जिसमें सुधारक प्रवृत्ति दिखाई देती है। कलात्मकता का ह्रास पाया जाता है। विनोद और मनोरंजन भी आक्षेपात्मक हो गया है जो सबको ही अरुचिकर होगा। किसी एकादि घटना से प्रभावित होकर ही भारतेंदु बाबू ने इस रचना के द्वारा अपने विचार प्रकट किये हैं। इसमें साम्प्रदायिकता की गंध-सी आती है। मत-मतान्तर के झगड़ों को उठा कर वही विवादात्मक वस्तु प्रस्तुत की गई है जिसमें आर्यसामाजिक खंडन-मंडन-प्रणाली को प्रश्रय मिलता है। माँस भक्षण के पश्चात् मद्यपान का प्रसंग भी उसी जगह बाद में उठाया गया है। विनोदी ढंग पर इसका भी समर्थन किया गया है। उस समय यह बात अवश्य थी कि जन-समूह माँस भक्षण और मद्यपान निषेध को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह ऐसे साहित्य से मनोरंजन प्राप्त करता था। इसीलिए जनता की इस प्रवृत्ति का परिचय व्यंग्य एवं विनोद के रूप में इस प्रहसन में पाया जाता है।

इसके सब पात्र हिंसा प्रेमी हैं और विकृत शास्त्रोक्त उद्धरणों द्वारा माँस-भक्षण और मद्यपान को धर्म की दृष्टि से उचित समझते हैं। धर्म की आड़ में उनका प्रयोग वर्ज्य नहीं मानते। पुरोहित सदृश जिह्वा-लोलुपी केवल स्वार्थ-साधन के लिए ही उसका समर्थन करते और समझते-बूझते हुए भी उसे खाते हैं।

कथोपकथन व्यंग्यात्मक होता हुआ भी साधारण है। हाँ यमपुरी का दृश्य दिखाकर कुछ रोचकता की जहाँ वृद्धि हुई है वहाँ शिक्षात्मक प्रवृत्ति भी जागृत हो उठी है।

"भगतजी गदहा क्यों न भयो", "हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदांती अर्थात् बिना दाँत के हैं सो भक्षण कैसे करते होंगे" आदि ऐसे कथन हैं जिनसे बालक अधिक प्रसन्न हो सकते हैं अथवा बाल-मस्तिष्क वाले प्रौढ़। यह छिछला हास्य है।

'अन्धेर-नगरी' में भी इसी बाल-वृत्ति एवं बाल-मनोरंजन का परिचय प्राप्त होता है किंतु 'अन्धेर-नगरी' के लिये 'बच्चों का खिलवाड़' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह रचना यद्यपि कई नाटकों के अनुवाद होने और लिखे जाने के बाद प्रकाशित हुई है किन्तु मेरी दृष्टि में यह उनकी प्राथमिक रचना है और उस अवस्था की जब वे छात्र रहे होंगे, क्योंकि क्या कथावस्तु, क्या शैली, क्या भाषा और क्या भाव-प्रकाशन सब ही दृष्टियों से यह निम्न कोटि की है। असम्भवताओं और अस्वाभाविकताओं से भरी हुई है। बालकों में प्रायः गम्भीरता का अभाव रहता और कोरी नकल की ओर ही अधिक झुकाव रहा करता है। आज भी बालक समुचित पथ-प्रदर्शन के अभाव में भोंडी नकल या खिलवाड़ से भरे हुए अभिनय किया करते हैं जिनमें भाषा की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता। केवल अनुकरण ही रहता है। यही बात इन दोनों नाटकों में देखी जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ दूसरे में कोरा मनोरंजन है वहाँ पहिले में मनोरंजन से आगे बढ़ कर शिक्षा एवं सुधार का भाव पाया जाता है। व्यंग्य और मनोरंजन द्वारा शिक्षा और सुधार की नींव खड़ी की गई है। इसमें भारतेन्दुजी अपने संस्कृत ज्ञान का आभास देते हुए भी दिखाई देते हैं। कथावस्तु और नाटकीय उपकरणों एवं नाटकोचित संघर्ष, द्वन्द्व आदि मनोवेगों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। मालूम पड़ता है इन रचनाओं को लिखते समय संस्कृत का ज्ञान उनका ताला ही था।

'अन्धेर-नगरी'

दोनों में मुख्य पात्र राजा ही है। प्रथम में वह मद्य और मांसभक्षी है। उसका समर्थन उसका पुरोहित, मंत्री आदि सब ही करते हैं। दूसरे में वह महामूर्ख के रूप में अंकित किया गया है। स्वतंत्र बुद्धि का अभाव दोनों में पाया जाता है। दोनों अपने मंत्रियों और मुसा-

हिवों के हाथ की कठपुतली हैं। अन्य पात्र या तो स्वार्थी हैं या चापलूस अथवा पेटू साम्प्रदायिक विवादों में भाग लेनेवाले, खंडन-मंडन की प्रवृत्ति के पोषक। आर्य-समाज एवं अन्य सम्प्रदायों में जो झगडे उन दिनों हुआ करते थे उनका आभास भी "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में मिलता है।

इन्हीं दोनों की श्रेणी में हम उनकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' को रख सकते हैं। इसका यह नाम भारतेन्दुजी ने किस उद्देश्य से रखा, नहीं कहा जा सकता। इसके अंक काशी के छाया-चित्र के नाम से प्रकाशित हुए थे। वास्तव में ये काशी के छाया-चित्र ही हैं जो काफी लिख लेने पर,

'प्रेम-योगिनी'

कुछ सिद्ध-हस्त हो जाने पर लिखे गये हैं। इनमें काशी का स्वाभाविक चित्रण है जो उनकी अवलोकन की सूक्ष्म दृष्टि का निदर्शक है किंतु इसमें वही पूर्व प्रवृत्तिएँ दिखाई देती हैं। ये काशी के जीवनकी विभिन्नताओं के चित्र हैं। स्वाभाविकता की रक्षा के निमित्त वे कथोपकथन नागरी-हिंदी-में लिखी गई मराठी भाषा में ही लिखते चले गये हैं। इसमें सन्देह नहीं महाराष्ट्र-प्रान्त से दूर रहते हुए भी सूक्ष्म अवलोकन दृष्टि प्राप्त करने के कारण, उनमें वर्णित मराठी पात्रों का चित्रण यथावत् और पूर्ण रूपेण कर सके हैं। मराठी भाषा के लहजे, भाव-भंगी, कहने का ढंग, प्रकृति, मराठी भाषा के कथोपकथन के प्राण, आत्मा आदि वे इसमें उतार सके हैं जिनका आनन्द हिंदी-भाषी मराठी विज्ञ भली भाँति उठा सकता है। किंतु यह संदेहास्पद है कि इस प्रकार के लंबे कथोपकथनों का हिंदी की रचनाओं पर लादा जाना कहाँ तक उचित है। प्राय: सूक्ष्म दृष्टि कलाकारों से जिन्हें अन्य भाषाओं का ज्ञान होता है उन भाषाओं के भाषा-सौंदर्य का इस प्रकार का प्रकटीकरण अपने आप हो ही जाता है। प्रेमचन्दजी भी जहाँ मुस्लिम पात्रों को चित्रित करते हैं,

उनकी आत्मा को पूर्णरूपेण उतारते हैं वहाँ उर्दू भाषा ही का प्रयोग करते हैं। उर्दू भाषा ही का प्रयोग नहीं करते उसकी आत्मा-उसमें प्रकट होनेवाले भाव जैसे के तैसे ही फोटोग्राफ के समान अंकित कर देते हैं। काशी के छाया-चित्रों में भी भारतेन्दुजी से यही हुआ है। उनमें भी प्रेमचन्द जैसी सूक्ष्म दृष्टि थी। इसीलिये बाह्य-चित्रण उनसे भी अच्छा हुआ है। ऐसा कलाकार यदि प्रकृति का चित्रण करे, यदि उसकी वृत्तियें उसमें रम सकें तो वह एक वैज्ञानिक से भी अधिक प्रकृति के अन्दर पैठ सकता है। वह यदि मानव-हृदय में, मस्तिष्क में प्रवेश कर सके तो वह विश्व का अमर कलाकार हो सकता है। हिंदी इन तीन अवस्थाओं में से प्रथम दो तक पहुँच चुकी है। पहिली अवस्था पर लाने का श्रेय भारतेन्दुजी को है, दूसरी पर प्रेमचन्द एवं 'प्रसाद' ने प्रतिष्ठित किया है और तीसरी पर हिंदी का कोई भविष्य कलाकार उसे बैठायेगा।

'विषस्य विषमौषधम्' और 'सती प्रताप' को छोड़कर शेष नाटक विभिन्न एवं विशिष्ट दृष्टि कोणों को सम्मुख रखकर लिखे गये हैं। जैसा

नीलदेवी

प्राक्कथन से प्रकट होता है नीलदेवी लिखने का लेखक का उद्देश्य यह है कि "पाश्चात्य ललनाओं की भाँति भारतीय ललनायें भी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर वीर और वीर-प्रसविनी बनें। जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं। पढ़ी लिखी होती हैं, घर का कामकाज सँभालती हैं, अपनी संतान को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व जानती तथा चाहती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, इसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ ग्रह-दाह और कलह ही में नहीं खोती हैं, उसी भाँति हमारी गृहदेवी भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें।" जन समूह के इस भ्रम को कि "उन्नतिपथ

का अवरोधक हम लोगों की कुल परंपरा मात्र है" दूर करना चाहता है। वास्तव में लेखक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हुआ है।

नीलदेवी एक वीर पत्नी ही नहीं है स्वतः एक वीर रमणी भी है। उसके चरित्र का विकास नाटक लेखक अंतिम अर्द्धभाग में करता है। अब्दुरशरीफखाँ एक विदेशी आक्रमणकारी है। वह उस समय के मुस्लिम आक्रमणकारियों का प्रतीक माना जा सकता है। उसमें, उसके सैनिको में वही उत्साह, वही नीत्ति तथा युद्ध प्रणाली, वही जैसे तैसे विजय प्राप्त करने की भावना और भारत को इस्लाम के झंडे के नीचे लाने का भाव है। राष्ट्रीयता का समर्थन करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार का भाव मध्यम युग के उस अंधकार मय वातावरण में था अवश्य। उस समय हिंदू जाति की सीधी सरल नीति, वीरता, साहस और उत्साह के होते हुए भी उसके लिये अहित-कारी थी। वे नीति और न्याय की दुहाई देते हुए पराजय पर पराजय झेलते जाते थे किंतु कुटिल नीति का अवलंबन नहीं करते थे। धीरे-धीरे इस नीति की प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। इसी प्रतिक्रिया का आभास हमें नीलदेवी के चरित्र में मिलता है। उसमें प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। वह अन्याय का घोर प्रतिकार उन्हीं सिक्कों में चुकाना चाहती थी जिनमें उसे प्राप्त हुआ था। वह बेबस थी, लाचार थी, शक्ति हीन थी। वह यह जानती थी कि कुमार केवल प्राण दे सकता है विजय प्राप्त नहीं कर सकता। वह देख चुकी थी कि उसका पति नीति और न्याय युद्ध के नाम पर मारा जा चुका है। धर्म-परिवर्तन के निमित्त उसके साथ अन्याय किया गया था। वह वीर नारी क्या करती? उस समय की बहु प्रच-लित कुटिल नीति के अवलंबन करने के सिवाय उसके पास और क्या उपाय था? पहिले भी वह पति को अब्दुरशरीफखाँ से और उसकी नीति से सचेत किया करती थी, किंतु उसकी सम्मति की अवहेलना की

गई थी, नहीं तो शायद ही उसे इस नीति के सहारा लेने का अवसर प्राप्त होता। जो उपाय उसने ग्रहण किया वह अंतिम था और उसी के साथ यह नाटक समाप्त होता है। अतएव यह कहना अनुचित है कि "जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेंदुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि नहीं होती।" जब कि नीलदेवी में वीरत्व, साहस, समय की सूझ, तत्कालीन नीति का अवलंबन, पति-वध का प्रतिकार पाया जाता है। "अंग्रेजी ललनाओं में क्या ये बातें नहीं दिखाई देती हैं?" इसीलिये लेखक "इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीनावस्था" पर दु:ख प्रकट करता हुआ उनके समक्ष नीलदेवी का चरित्र रखता है ताकि वे पुण्यरूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें, और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।'

हाँ इसमें 'प्रतिहिंसा के भाव' की तो नहीं किन्तु हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की वृद्धि-सी आज दिखाई दे सकती है। यह भाव मुस्लिम आगमन से आज तक नानक और कबीर से महात्माओं के उपदेशों के होते हुए भी बना हुआ है। द्विजेन्द्रलाल राय के अधिकांश नाटक भी इसी 'नीलदेवी' के कोटि के हैं। इसका एक कारण है। उस समय तक भारत में वह राष्ट्रीय भावना पुन: जाग्रत नहीं हुई थी जो आज दिखाई देती है अथवा मुस्लिम आगमन के प्रथम थी। मुस्लिम आगमन ने इस भावना को बड़े जोर का धक्का देकर हिला दिया था और आज देश के इतने प्रयत्नों के बाद भी उस भावना की विजय में, सर्वोपरि होने में सदेह रह ही जाता है। इसका एक कारण ज्ञात होता है। वह यह है कि अधिकांश मुसलमान अब तक भारत को अपना देश नहीं समझते। उसके सुख-दु:ख स्वार्थ में अपना भी स्वार्थ है ऐसा नहीं समझते। वे अब तक शायद समस्त-मुस्लिम-राष्ट्र-सघ का स्वप्न टर्की आदि की स्वतंत्र विचार-प्रणाली के होते हुए भी देखा करते हैं। इधर हिन्दू-हित-

पत्नी भारत को अपना देश समझते हैं ही। इस लिए प्राय: इसी प्रकार की रचानाएँ होती रहती हैं। किन्तु इनका प्रणयन, विशेष कर 'नील देवी' का, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य वृद्धि के उद्देश्य से नहीं प्रत्युत साधारण प्रकृति वश हो गया है।

तब हिन्दू-मुस्लिम समस्या जिस रूप में आज हमारे सामने है उस रूप में नहीं थी। उनमें मुस्लिम-बन्धुओं को अपने भ्राता और सहयोगी समझते हुए भी भारत हमारा ही है ऐसा-

भारत दुर्दशा

भाव था। स्वभावत:, साधारणत: उनमें यह भाव नहीं रहता था कि वे मुसलमानों का विरोध करें अथवा उन्हें देश से बाहर निकालना चाहें। पृथक अंग न होकर बराबर के हिस्सेदार भाई हो जावें, यह भाव था। यही उन्होंने किया था और इसे करते हुए अपने पूर्व गौरव के वे स्वप्न देखा करते थे, न कि मुस्लिम विरोध के। उनमें सच्ची राष्ट्रीयता थी किन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें आज हम हिन्दू और मुस्लिम दोनों से आशा करते हैं। भारतेन्दु बाबू भी इसी लक्ष्य की ओर जा रहे हैं अथवा उस समय के एक भारतीय स्वदेश प्रेमी का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं नहीं तो वे, "अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी" कह कर भी पराधीनता से छटपटाते नहीं। क्योंकि उस समय, अंगरेज आगमन के पश्चात् भी हिन्दू भारतवासियों में यह भावना प्रबल थी—

"सबके पहिले जेहि, ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले तेही सभ्य विधाता कीनो ॥"

'भारत दुर्दशा' में भारतेंदुजी इसी भावना का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने सच्चे देश-प्रेम की, हृदय में पराधीनता के अभिशाप की जो ज्वाला धधक रही थी उसका, भारत की घोर दुर्दशा का चित्र खींचते हैं। अंगरेज आगमन से भी भारत को सुख-शान्ति जिसकी इसने आशा की

थी वह प्राप्त नहीं हुई थी। भारत कहता है "हाय! मैंने जाना था कि अंगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मनको पुस्तकों से बहला देंगे और सुख मानकर जन्म व्यतीत करेंगे।" इसके स्थान पर,

"पै धन विदेश चलि जात इहै अतिख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी॥"

गुलामी में और होता क्या है? स्वराज्य और सुराज्य में महान् अन्तर क्यों है? सुराज्य सुशासन दे सकता है। अधीनस्थों में, गुलामों में उनके बीच न्याय कर सकता है किन्तु क्या वह केवल स्वतन्त्रता द्वारा ही प्राप्त होनेवाला आत्म गौरव भी दे सकता है? क्या समृद्धि, विकास, उन्नति और वृद्धि भी दे सकता है? शिक्षा और सभ्यता दे सकता है किन्तु क्या वह उस देश का अपनत्व हरण नहीं कर लेता? धन-हरण तो परतंत्रता का मुख्य ध्येय है जिसके आधार पर वह पुष्ट होता है और जिसके कारण गुलाम देश की नसें रक्त-विहीन हो भयंकर रोगों को आह्वान करती हैं।

पराधीनता का यही तो अभिशाप है कि वह स्वतन्त्र भावोद्भावनी प्रतिभा को, आत्मावलंबन के दृढ विश्वास के सिर पर पदाघात करता है। फल-स्वरूप आलस्य, निराशा, कलह, मतभिन्नता, कुमति, अज्ञान आदि का प्रादुर्भाव होता है और सभ्य से सभ्य देश गुलाम बन कर मूक पशु हो जाता है जिसका उपयोग, जिसकी शक्तियों का उपयोग, उसका स्वामी अपने लिए, अपने स्वार्थों के लिए, अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए किया करता है। पशु तो फिर भी स्वतंत्र होते हैं। मरना-मारना जानते हैं किन्तु गुलाम—मानव रूप पशु तो वह पालतू जानवर हो जाता है जो केवल चारा-दाना खाकर, अपना रक्त, अपना जीवन स्वामी और उसके स्वार्थ-हितार्थ अग्नि में जलाया करता है। इसीलिए तो 'आंग्ल सूर्योदय' के समय भूखे, दुर्बल, रोगी भारत की वेदना न मिटी।

ऐसे समय भारत में आशा का संचार कैसे हो सकता था ? वह तो प्रकृति-विरोधी, युग-विरोधी, हृदय-विरोधी अस्वाभाविक बात होती। आज भी भारत की दशा 'भारत दुर्दशा' में वर्णित दशा-सी ही है। फलतः आज भी साहित्य में विषाद, वेदना, नैराश्य, छटपटाहट, रुदन आदि मिलते हैं। इनसे विरुद्ध वस्तु का मिलना कभी स्वाभाविक हो ही नहीं सकता यदि सच्चा मानव, सच्चा युग उस कलाकार के मस्तिष्क में नहीं, हृदय में निवास करता है। कलाकार कोई अनोखा प्राणी नहीं होता, वह कितना ही कल्पना के गगन में क्यों न उड़ता फिरे किंतु "जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै" वैसे ही वह भी इसी मानव भूमि के पृष्ठ पर अन्त में पैर रखता ही है। वह 'अह' में अपने को श्रेष्ठ, उच्चतम, दुनियाँ से कितना ही ऊँचा क्यों न समझे ? यदि हमें 'भारत दुर्दशा' में नैराश्य का भाव मिलता है तो वह उचित है, स्वाभाविक है, सत्य है, सुन्दर है, कलात्मक है और इसीलिए परोक्ष रूप से 'शिव' भी है। उस समय की परिस्थिति पर जब हम विचार करते हैं तब हमें विदित होता है कि उस समय आशा थी ही कहाँ ? पराधीनता की वेड़ियें सन् सत्तावन के बाद, भारत के मुक्त होने के बड़े प्रयत्न के पश्चात्, करुण भारत का मंगल, हित था ही कहाँ जिसकी आशा में पृष्ठ रंगे जाते, कलम घिसी जाती ? उक्त क्रान्ति के पश्चात् तो भारत की वेड़ियें और भी तंग, भारी कर दी गई थीं। उसे काल-कोठरी दे दी गई थी जहाँ वह आराम से, शांति से विचार कर सकता था, इसीलिए तो भारतेंदुजी ने भारत के मुख से कहलवाया है, "हम अपने दुखी मनको पुस्तकों में बहलावेंगे" कितना मार्मिक, कितना नैराश्यपूर्ण है यह कथन। श्रेष्ठतम निराशा का सौंदर्य 'भारत दुर्दशा' में बड़ी ही प्रबलता से व्यक्त हुआ है। 'नीलदेवी' में केवल इस नैराश्य भाव का दिग्दर्शन ही है किन्तु 'भारत दुर्दशा' में उसका पूरा

परिपाक हुआ है जिससे हमें ज्ञात होता है कि भारतेंदुजी की नस-नस में भारत कैसा समाया हुआ था? क्या भाषा और क्या भावों के व्यक्तीकरण की दृष्टि से यह नाटक बहुत ही उत्तम है। कितना मार्मिक, कितना सहानुभूति पोषक है। इसीलिए नाटक का अन्त विषादात्मक, निराशामय दिखाया गया है। उसमें उन्होंने जान-बूझ कर भरतवाक्य नहीं दिया है जिसका प्रयोग वे बराबर करते रहे हैं। यही हाल 'नीलदेवी' का भी है। उसमें भी भरतवाक्य नहीं मिलता। मिल कैसे सकता है जब ये रचनाएँ लेखक के हृदय-तल से निकली हैं। जब उसमें निराशा का भाव छाया हुआ है। वास्तव में उस समय आशा का अंकुर तो पूरी तरह मुरझा ही गया था। सिपाही विद्रोह की भारतीय महाक्रान्ति से श्मशान शांति थी। उसमें आशा कैसे हिलोरे लेती? अंग्रेजी इतिहास में हम यह अवश्य पढ़ते हैं कि भारत उस समय शान्त कर दिया गया था। घटनाओं का विवेचन इस प्रकार किया जाता है जैसे उक्त क्रांति के पश्चात भारत में शान्ति व्याप गई थी और वह सुख की नींद सोने लगा था। यह मिथ्या है। जिनके पिता, पुत्र, बंधु, पति, आदि का बलिदान हुआ होगा उनकी आत्माएं किस प्रकार शान्त रह सकी होंगी? अतएव भारतेंदु बाबू ने नैराश्य का चित्रण कर युग-धर्म का ही पालन किया है। उनसे मंगलाशा की आशा करना बालू से तेल निकालना है। नदी को पर्वत पर चढ़ाना है।

भारत दुर्दैव कहता है, "कहाँ गया भारत मूर्ख! जिसको अब भी परमेश्वर और राज राजेश्वरी का भरोसा है?" इसमें क्या प्रकट होता है? बारबार जैसे उनकी आत्मा खीझ उठती है, झल्ला पड़ती है। देश की दुर्दशा उनके हृदय में शूलसी चुभती रहती है, काँटे सी खटकती है। कभी उनकी खीझ शासन पर प्रकट होती है, कभी स्वयं पर, जहाँ वे अपने अथवा हिंदू समाजके संबंध में

के संबंध में उद्‌गार प्रकट करते हैं वहाँ विदित होता है कि अपने विषय से, अपनी रचनाओं से भारतेंदु बाबू का कितना लगाव था, कितनी घनिष्ठता थी। अपने विषय में वे कितने लीन हो जाते थे। उनकी भाषा इस नाटक में बड़ी ओजमयी हो गई है। अपने प्रति भी उनमें खीझ का काफी भाव है। इसीलिये आगे भारत दुर्दैव फिर कहता है।

"अंग्रेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरे। लिया भी तो अंग्रेजों से औगुण! हहाहा! कुछ पढे लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हहाहा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों के दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी मे पकड़ो"।

संतोष का फल भारत को क्या मिला? वह कहता है "राजा प्रजा सब को अपना चेला बना लिया, अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम देश से कुछ काम नहीं, राज न रहा पेनशन ही सही। रोजगार न रहा सूद ही सही, वह भी नहीं तो घर का ही सही 'संतोषी परमं सुखं' रोटी ही को सराह सराह कर खाते हैं, उद्यम की ओर देखते ही नहीं।"

इसी प्रकार रोग, अन्धकार आदि के कथनों में उनका हृदय फट पड़ा है। उनकी आत्मा अपने को प्रकट किये बिना रुक नहीं सकी है।

उस समय के कोरे कवि भी शायद आज के कोरे कवियों के समान ही रहे होंगे। जो 'मानव' और 'विश्व' (कल्याण) अपने मुँह में, मस्तिष्क में लिये रहते हैं किंतु मानव और विश्व के प्रति जैसे उनका कोई कर्तव्य नहीं। एक विशेष प्रकार की भाषा में, एक विशेष ढंग से भावों को व्यक्त करके अपने कर्तव्य की, कवि एवं मानव कर्त्तव्य की इति-श्री समझ लेते हैं। आज के कवियों में भी उनकी भाषा, भाव, रुदन और गायन में भी वही नारी और नारीत्व झलकता रहता है। इनका कार्य-क्षेत्र केवल शब्दों के जमघट तक ही सीमित रहता है। और अपने जीवन में वे अपनी मृदुल कल्पनाओं को नहीं देख पाते, नहीं देख

सकते । दूसरी बात उनमें पाश्चात्य भाव-प्रवणता, ज्ञान-विज्ञान के अनुकरण से अधिक उस सभ्यता की ओर अग्रसर होने की है जो विनाश की ओर शीघ्रता से जा रही है । 'भारत-दुर्दैव' में इस पर भी प्रकाश डाला गया है ।

विद्यासुन्दर और चन्द्रावली

'विद्या सुन्दर' और 'श्री चंद्रावली' उनकी ऐसी रचनाएँ हैं जो रोमैंटिक कही जा सकती हैं। ऐसी रोमांस की श्रेणी में आनेवाली रचनाएँ प्रायः किसी साहित्य के प्रारंभिक युग के अन्त में और माध्यमिक युग के प्रारम्भ में लिखी पाई जाती हैं। आँग्ल और फ्रेंच साहित्य के संबंध में तो यह बात घटित होती ही है किन्तु हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भी इसीलिए प्राप्त होती है कि भारतेंदुजी में हमें हिन्दी-नाट्य-साहित्य के युग के प्रारम्भ का प्रौढ़ और मध्य के प्रारभ का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। अतएव हमें इन रचनाओं को रोमांटिक कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

'विद्या सुन्दर' का कथानक इस प्रकार है। विद्या वर्द्धमान के राजा की गुणवती सुन्दर कन्या है किन्तु उसके योग्य वर नहीं मिलता। कई राजकुमार विवाहार्थ आते हैं किन्तु कोई भी उसके योग्य नहीं ठहरता। राजा को बहुत चिन्ता होती है। गगाभाट गुणसिंधु (कांचीपुर के राजा) के पुत्र 'सुन्दर' की प्रशंसा करता है। राजा उसे देखने का आग्रह कर बुलवाता है। भाट उधर सुन्दर को लेने के लिए जाता है। इधर स्वयं सुन्दर विद्या के रूप, गुण, सौंदर्य पर मुग्ध होकर वर्द्धमान में ही आ जाता है। यहाँ पर हीरा मालिन से जिसका संपर्क राजघराने से है, परिचय प्राप्त कर रहने लगता है। एक दिन एक हार गूँथ कर विद्या के पास उसकी उत्सुकता वृद्धि के हेतु भेजता है। विद्या उस हार पर मुग्ध हो हीरा का ही बना हुआ हार मानना अस्वीकार

कर उससे भेद पूछती है। अन्त में सुन्दर, उस परदेशी युवक का वह पुत्र के रूप में परिचय देती है। विद्या के हृदय में सुन्दर को देखने की उत्कंठा जाग्रत होती है। दोनों का रोमैंटिक मिलन, वार्तालाप और प्रेम होता है। बाद में दोनों विवाह-प्रतिज्ञा में बँध से जाते हैं। इधर सुन्दर सन्यासी का रूप धारण कर राज सभा में पहुँचता है। शास्त्रार्थ में सभा को पराजित कर राजकुमारी विद्या से दूसरे दिन शास्त्रार्थ करना चाहता है ताकि विद्या से विवाह किया जा सके क्योंकि राजा की यही प्रतिज्ञा थी कि जो विद्या को शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा वही उससे विवाह करेगा। सन्यासी से विवाह हो जाने की आशंका से सबको दुःख होता है, विशेषकर विद्या और उसकी सखियों को। हीरा मालिन और विद्या का इस विषय का कथोपकथन रोमांटिक हो गया है। फिर पता चलता है कि कोई विद्या के महल में स्त्री का भेष धारण कर चोरी करने प्राय नित्य जाया करता है। राजा क्रोधित होता है और नगर कोतवाल के द्वारा सुन्दर पकड़ा जाता है। राजसभा में रोमांटिक ढंग से भेद खुलता है।

बाबूजी की इस रचना को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह रोमांटिक है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव में यह अनुवाद है जैसा बाबू श्यामसुन्दरदासजी मानते हैं। मैं इसे अनुवाद नहीं मानता। किसी कथानक की छाया लेकर यदि नाट्यरचना करना अनुवाद हो सकता है तो पौराणिक या ऐतिहासिक नाटक सरीखी कोई रचना नहीं रह जाती है। फिर यह कथानक केवल बंगला की ही वस्तु नहीं है। इस प्रकार का चरित्र किस्से-कहानी के रूप में उत्तर भारत में प्रचलित रहा है। हाँ बंगाल में विशेष रूप से उसका चलन रहा होगा। उसके संबंध में स्वयं भारतेंदुजी लिखते हैं उससे भी यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि यह अनुवाद ही है। वे लिखते हैं

"विद्या-सुन्दर की कथा वंग देश में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौर पंचाशिका का कवि है वही सुन्दर है। कोई चौर पंचाशिका को वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की आख्यायिका का मूल वही चौर पंचाशिका है। प्रसिद्ध कवि भारत चंद्रराय ने इस उपाख्यान को वंग भाषा में काव्य रूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि वंग देश में आबाल वृद्ध वनिता सब उसे जानते हैं। महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलंबन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पंद्रह बरस हुए यह हिंदी भाषा में निर्मित हुआ है।"

श्री चंद्रावली एक दूसरी दृष्टि से रोमांटिक है। चंद्रावली का प्रेम इतना शुद्ध, उच्चकोटि का और रोमांटिक हो जाता है, वह इतनी भूली, विस्मृतसी भटकती रहती है कि उसे अपने शरीरादि की सुधि ही नहीं रहती। संध्या और वनदेवी से वार्तालाप में तो उसकी विस्मृति, तल्लीनता चरम कोटि तक पहुँच गई है। अन्त में श्रीकृष्ण का स्त्री का रूप धारण कर उससे मिलना भी रोमेंटिक हो गया है।

'विषस्य विषमौषधम्' के संबंध में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का मत है, "विषस्य विषमौषधम् तो हमें भारतेंदुजी की रुचि और प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ता है।" "इसमें भारतेंदुजी अपने असली रूप में नहीं देख पड़ते। उनके स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देश हितैषिता में बड़ा ही परिवर्तन देख पड़ता है।" "इस भाषण से ऊपर जो दो छन्द उद्धृत किये गये हैं उनकी श्लेषयुक्त भाषा में जो अश्लील भाव छिपे पड़े हैं वे केवल निंदनीय ही नहीं प्रत्युत कवि के रुचि विपर्यय के स्पष्ट प्रमाण भी हैं। भारतेंदुजी इस रचना में अपने ऊँचे आसन से बहुत नीचे गिर गये हैं।"

विषस्य विषमौषधम्

यह मत उन्होंने बाबू शिवनंदनसहायजी के एक कथन के आधार पर स्थिर किया है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने का कारण वे यह बतलाते हैं, "जो महात्मा देश के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहे, जिसको बात-बात में अपने देश का स्मरण हो आवे और जो उसके उदय के संबंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी से उतारे जाने पर आनंद मनावे और भाषण लिख कर प्रशस्ति में 'अंगरेजन को राज ईस इत थिरकरि थापै' तक कह डाले।"

हमारी तुच्छ दृष्टि में बाबूजी का उक्त कथन एकांगी, सहानुभूति-हीन एवं अनुचित है। सम्भव है विषय नीरस समझ कर इसकी आत्मा की ओर आपका कम लक्ष्य रहा हो।

भाण की कथा वस्तु दो प्रकार की हो सकती है। एक तो सीधे-साधे वाक्यों में, साधारण रूप से घटनाओं का वर्णन करते हुए और दूसरी व्यंग्यात्मक। भारतीय नाट्य रचनाओं के आदि साहित्य में अवश्य केवल पहिला ढंग ही स्वीकृत हुआ होगा किंतु इस बात की भी धीरे-धीरे आवश्यकता महसूस होने लगी होगी कि बिना व्यंग्य के वह सार-युक्त नहीं हो सकता। अतएव बाद के साहित्य पर दृष्टि रखते हुए जब हम भाण के प्रणयन के ढंग (Nature of the drama) पर विचार करते हैं तो हमें स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उसके प्राण तो व्यंग्य ही हैं और तब ही वह रोचक और आकर्षक हो सकता है। 'विषस्य विष-मौषधम्' प्रारम्भ से मध्य तक पूर्ण रूपेण और मध्य से अन्त तक बीच-बीच में (क्योंकि यहाँ कथावस्तु लेखक शीघ्रता से पाठकों के सामने इसलिए रख देना चाहता है कि उसका कलेवर न बढ़े) व्यंग्य से ओत-प्रोत है। हिंदी-नाट्य-साहित्य में प्रथम भाण होते हुए भी बड़ा ही उत्तम तथा व्यंग्यात्मक हो सका है। यह रचना भाण के मूलभाव को

संपूर्ण रूप से सुरक्षित रख सकी है। इसमें कूट-कूट कर, पद-पद पर व्यंग्य भरा हुआ है। अतएव जब तक हम उसकी आत्मा को व्यंग्य को न समझेंगे हम लेखक के साथ न्याय नहीं कर सकते।

अब निम्न-लिखित अवतरणों पर विचार कीजिये कि बाबूजी का उक्त कथन कहाँ तक न्याय संगत है। यह अवश्य हो सकता है कि इस रचना के समय भारतेंदु बाबू पर सरकार का कोप या दबाव पड़ा हो, तौभी इसमें भारतेंदु बाबू का वही हृदय, वही आत्मा दिखाई देती है जो उनकी अन्य रचनाओं में है। संभवतः उक्त दबाव के कारण ही उनकी आत्मा इस भाव के रूप में फूट पड़ी हो; व्यंग्यात्मक हो गई है। स्वदेश के प्रति, हिंदू-समाज के प्रति इसमें भी वही भाव है।

प्रारम्भ से ही भंडाचार्य व्यंग्योक्ति का अवलम्बन करते हैं। "हमारी दशा भी अब रावण-सी हुआ चाहती है, तो क्या हुआ होगा।

रावण ने दस सिर दिये, जनक नन्दिनी काज।
जौ मेरो इक सिर गयो, तो यामे कहँ लाज॥

देखो पर स्त्री संग से चन्द्रमा यद्यपि लांछित है तो भी जगत् को आनंद देता है वैसे ही (मोछों पर हाथ फेर कर) हम बड़े कलंकित सही पर हमी इस नगर की शोभा हैं।"

"हाय-हाय! महाराज! अरे क्या हुआ? गद्दी-से उतारे गये! हाय महा अनर्थ हुआ। महाराजा नहीं गये हिंदुस्तान गया।"

"वाजिदअली शाह भी तो इसी खुराफत से उतरे थे माँ और भाई मालिक से इन्साफ चाहने के लिये विलायत पहुँचे।"

पासा पडे सो दाव, राजा करे सो न्याव।

इनका राज्य गया तो क्या आश्चर्य है यह कुछ आज ही थोड़े हुई है, सनातन से चली आई है। और फिर राजनीति की रक्षा भी इसी से होती है।"

"धन्य है ईश्वर। सन् १५६६ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं वा यह तो बुद्धि का प्रभाव है। और यह तो इनके सुशासन और बल का फल है।"

"साढ़े सत्रह सौ के सन् में जब आरकाट में क्लाइव किले में बंद था तो हिन्दुस्तानियों ने कहा कि रसद घट गई है सिर्फ चाँवल हैं सो गोरे खायँ, हम लोग माँड पीकर रहेंगे।"

"सन् १८१७ में जब सरकार से सब मरहठे मात्र बिगड़े थे तब सिर्फ बड़ौदेवाले साथ थे। उनके कुल की यह दशा।"

"कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा जहाँ चलाइये वहाँ चलें।"

"हमारी सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे वह झख मारे। यदि ऐसे लोगों को उचित दण्ड न हो तो ये लोग न जाने क्या अनर्थ करें।"

"अहा धन्य है सरकार! यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी। और कोई बादशाह होता तो राज्य जप्त हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर, जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज्य स्थिर रहे।"

इसी प्रकार "अंगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै।" में भी व्यंग्य है। ये कबीर के "बरसै कम्मल भींगै पानी" वाली उक्ति को ही चरितार्थ कर रहे हैं।

अब उक्त दो पद्यों पर विचार कीजिये। नारी का एक रूप वह भी है जहाँ वह आकर्षक है, मोहक है। हम उसके इस अंश की अवहेलना नहीं कर सकते और यदि हम अवहेलना करें भी तो उस अवहेलना का मूल्य ही क्या होगा? जिस अंश का तिरस्कार साधु, महात्मा, पहुँचे पुरुष भी सर्वथा करने में असमर्थ रहे हैं और हैं, वह तुच्छ, नगण्य,

त्याज्य नहीं समझा जा सकता। नारी का यही वह प्रबल रूप है जिससे मनुष्य उसका आदर करता है, उसका सहयोग चाहता है। उसे अपने जीवन के संपर्क में लाना चाहता है, उसके समक्ष नत-मस्तक होता है। यदि नारी में यह सहज, स्वभाव-जात आकर्षण नहीं होता तो यह स्वार्थी, पुरुषार्थी, शक्ति का पुजारी मानव उसे पैरों से कुचल डालता, उसे निगल जाता; उसका नाश कर देता। नारी ने यदि ममता को, ममता के सहोदर संतति को पैदा न किया होता तो मनुष्य उच्छृंखल हो जाता, स्वार्थी हो जाता। सृष्टि का संहार कर डालता। नारी का यही रूप परोक्ष रूप से मनुष्य की अनेक अतृप्त आकांक्षाओं को सीमित बनाये हुए है वरना वह उग्र हो उठता, विनाशक हो उठता, प्रलय मचा देता। उपेक्षित, अवहेलित नारी के पास इस शक्ति के अतिरिक्त और कौनसी शक्ति आज के बीसवीं शताब्दी के सभ्य और शिक्षित मानव ने छोड़ रखी है? आज वह नारी का पुजारी क्यों बन गया है? क्या वह उसका उपकार करना चाहता है? उसे महत् बनाना चाहता है? उसके प्रति उसे सहानुभूति है? यह सब भ्रम है, पाखंड है। नारि का यही शक्ति-स्रोत ही तो उसे नचाया करता है। इसे अश्लील कहकर हम मुँह नहीं फेर सकते। इसमें संदेह नहीं नारी में भगिनीत्व एवं मातृत्व भी है। वास्तव में ये नारी के शृंगार हैं, श्रेष्ठ हैं पूज्य हैं। किन्तु नारी में जो पत्नीत्व है वह उसका एक प्रबल व्यापक सर्वकालीन अंग है जो चाहे आदर्श न हो किन्तु व्यावहारिक अवश्य है। 'काम' अथवा 'कामदेव' शब्द आ जाने मात्र से केवल कोई रचना अश्लील नहीं कही जा सकती। इन्हीं दो छंदों में भारतेंदु बाबू ने बड़ी प्रबलता से उसी सहज आकर्षण का चित्रण किया है। यह चित्रण स्वाभाविक भी है। वर्ण्य विषय और प्रसंग के पूर्ण रूप से अनुकूल है। जिस नारी के इस रूप ने महाराजा बड़ोदा को सिंहासनच्युत कराया

उस स्थान पर इस प्रकार के छंद अनुचित प्रतीत नहीं होते। वे छंद हैं।

"पुरुषजनन के मोहन को विधि यत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावण्य सुजल बल जाको विरंचि चलायो है॥
कमर कमानी वार तार सौं सुन्दर ताहि सजायो है।
धरम घड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है॥
पुरुष जनन के मोहन को यह मंगल यत्र बनायो है।
कामदेव के बीज मन्त्र सों अंकित सब मन भायो है॥
ग्रहण दिवारी कारी चौदस सारी रात जगायो है।
सिद्ध भयो सबको मन मोहत नारी नाम धरायो है॥

सत्य हरिश्चन्द्र सत्य हरिश्चन्द्र नाटक भारतेंदुजी का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। इसका अभिनय भी कई बार किया जा चुका है। वास्तव में न केवल शिक्षा की दृष्टि से किंतु कला और रस-परिपाक की दृष्टियों से भी यह एक सुन्दर कृति है। इसकी भाषा, इसके भाव, इसकी कथावस्तु और उसका प्रयोग एवं समुचित निर्वाह लेखक के मनोनुकूल, आदर्श के अनुकूल हुआ है जिसमें उसके स्वयं के जीवन का प्रतिबिंब दिखाई देता है। नाटक की कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी उसमें नवीनता है और वह अरोचक नहीं हो पाई है। इस नाटक की गणना संघर्ष-प्रधान नाटकों ही में करना उचित होगा यद्यपि वियोगात्मक होते हुए भी अंत में वह संयोगात्मक हो गया है। क्योंकि प्रारंभ से लेकर अन्त तक बाह्य और आँतरिक दोनों प्रकार का संघर्ष राजा हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र में चला करता है। यद्यपि बाह्य-दृष्टि से देखने में यह प्रतीत नहीं होता कि विश्वामित्र से कोई द्वन्द्व युद्ध हो रहा है। किंतु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर दो विरुद्ध दल दिखाई देते हैं। एक ओर राजा हरिश्चंद्र तथा उनका परिवार है और दूसरी ओर विश्वामित्र, इन्द्र तथा अन्य परीक्षक हैं। इनमें प्रारंभ से

लेकर अंत तक द्वन्द्व चलता रहता है। विश्वामित्र इस में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते और एक आग सुलगाकर अलग हो जाते हैं। केवल कभी-कभी उस जलाई हुई आग को और प्रज्वलित कर देते हैं। अन्त में रोहिताश्व को सर्प-दंशन करवा कर उस अवस्था में नाटक की कथा वस्तु को ला देते हैं जहाँ संघर्ष अपनी चरम कोटि पर पहुँच जाता है। चूँकि यह नाटक संघर्ष प्रधान है इसलिये हमें यह देखना चाहिये कि इस संघर्ष का जनक कौन है? शायद यह कहा जा सकता है कि इंद्र ही इसका जनक है जिसने ईर्षावश ऐसी परिस्थितिएँ विश्वामित्र द्वारा उपस्थित करवा दी कि हरिश्चंद्र को संघर्ष में भाग लेना अनिवार्य हो गया। यदि इन्द्र को इस संघर्ष का जनक मानते हैं तो हमें स्वयं हरिश्चंद्र की इस प्रतिज्ञा को ही संघर्ष को पैदा करनेवाली मानना चाहिये कि

"चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिश्चंद्र को, टरै न सत्य विचार॥"

इसी प्रतिज्ञा के कारण इंद्र में राजा हरिश्चंद्र के प्रति ईर्षा पैदा हुई। उनकी इस प्रतिज्ञा के सत्य की परीक्षा लेने की इच्छा पैदा हुई। यह तो राजा हरिश्चंद्र का आह्वान था जिसकी चुनौती इंद्र और विश्वामित्र ने स्वीकार की और पराजित हुए। अतएव यह कहना न्याय संगत नहीं हो सकता कि, "क्रियाशील तो विश्वामित्र दीख पड़ते हैं, हरिश्चंद्र तो अकर्मण्य की भाँति जो जो सिर पर पड़ता है उसे चुपचाप सहते जाते हैं।"

अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पर अड़े रहकर स्त्री-पुत्र और स्वयं को बेचकर, तरह-तरह की आपत्तिएँ झेलकर, स्वामी-सेवा और स्वामी के प्रति कर्त्तव्य के लिये ऋद्धि-सिद्धियों को तिलांजुलि देना, महाविद्याओं की ओर से मुँह फेर लेना, शैव्या से रोहिताश्व के कर में कफन का कपड़ा

माँगना और अपने सत्य धर्म पर स्थिर रहना यदि अकर्मण्यता हो सकती है तो फिर कर्मण्यता हम किसे कहेंगे ?

दूसरे इस दृष्टि से भी विचार कीजिये। यदि हरिश्चंद्र संसार के समान स्वप्न को भी सत्य न मानते और राज्य देना अस्वीकार कर देते तब क्या होता ? शायद विश्वामित्र उन्हें श्राप देते, कष्ट देते अथवा नाटक में वर्णित अवस्था में ला पटकते, ऐसी अवस्था में उपर्युक्त कथन ठीक हो सकता है। किंतु वे स्वप्न को सत्य मानते हैं, उसके लिये सर्वस्व त्याग देते हैं और आपत्तियों का आह्वान करते हैं, वे अकर्मण्य नहीं माने जा सकते। इसलिये नाटक के नायक उन्हें ही मानना उचित है और विश्वामित्र को प्रतिनायक।

यह बात सत्य है कि अभिनय कला की दृष्टि से इसमें कतिपय त्रुटिये रह आई हैं। अंकों का विभाजन रोचकता एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं है। जहाँ उत्तरोत्तर अंकों का छोटा होते जाना चाहिये था वहाँ वे बड़े होते गये हैं। अंत में शैव्या विलाप भी अत्यधिक बड़ा हो गया है। आँसुओं की धारा पाठकों को रुला देती है। अभिनय के समय यही बात होती है। किंतु समय का परिवर्तन भी कोई चीज है। यद्यपि अमर रचना तो अमर होती है किंतु सब समय वह एकसा-मनोरंजन कर सके यह संभव नहीं। एक समय की सर्व श्रेष्ठ रचना हमेशा सर्व श्रेष्ठ रचनाओं में परिगणित की जाना चाहिये किन्तु समयान्तर से रुचि में भी भिन्नता आ जाती है और तब पाठक एक नवीन और उससे भिन्न वस्तु की माँग करता है। साधारण स्वादों के समान साहित्य में भी स्वादों, रुचियों अथवा रसों की भिन्नता की माँग समय-समय पर हुआ करती हैं। रचना का सब से बड़ा गुण विशेष कर नाटकीय रचना का बड़ा गुण तो यह है कि वह असत्य अथवा आन्तरिक सत्य को सत्य अथवा वाह्य सत्य में परिणत कर दे, हमें भुला दें कि

हमारे समक्ष जो पात्र अभिनय कर रहे हैं वे हमारे समय के साधारण मनुष्य नहीं प्रत्युत वही मनुष्य हैं जिनका कि वे अभिनय कर रहे हैं। इस भुला देने को, असत्य को सत्य रूप देने को ही हम कला कहते हैं। सत्य हरिश्चंद्र में इस कला की बहुलांश में रक्षा हुई है। शैव्या-विलाप-आवश्यकता से अधिक बड़ा होते हुए भी अपना इच्छित प्रभाव पाठकों पर छोड़ ही जाता है। अतएव अस्वभाविकता से रहित है। प्रेक्षक यदि भूलकर रोने लग सकते हैं तो यह कला का दोष नहीं, चरमाभिव्यक्ति है। उस समय तक इस कला पर कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। इस विषय का कोई ग्रंथ हिंदी में उपलब्ध नहीं था। भारतेंदुजी की अप्रतिम प्रतिभा ने संस्कृत एवं पाश्चात्य नाट्य प्रणालियों का जितना ज्ञान उस समय संभव हो सकता था प्राप्त कर, उसका समुचित उपयोग कर हिंदी-नाट्य साहित्य की श्री वृद्धि की और उच्चादर्श रखा। उस समय तो उन्हें केवल इसी बात से संतोष था कि " जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई।" और हमें भी इतने से संतुष्ट होना जाना चाहिये और इस प्रवृत्ति के पैदा करने का श्रेय भारतेंदुजी को ही देना चाहिये। भारतेंदुजी ने यह कार्य केवल इसीलिये लिया क्योंकि जो बड़े-बड़े लोग थे (हैं) और जिनके किये कुछ हो सकता था (है) उनका ध्यान इस ओर जाता ही न था।

यद्यपि यह नाटक उनके मित्र बालेश्वर प्रसाद बी ए के इस आग्रह पर कि "आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने योग्य हो, क्योंकि श्रृंगार रस के नाटक जो उन्होंने लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं।" लिखा। किंतु इसका विकास बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। प्रथम अंक में लड़कों के

लिये शिक्षा का खजाना है। दूसरे में नाटकीय विकास का प्रारंभ, राजा हरिश्चन्द्र की दृढ़ प्रतिज्ञा से आरंभ होता है। उस प्रतिज्ञा-पूर्ति के प्रयत्न का प्रारंभ होता है। तीसरे अंक में प्रतिज्ञा पूर्त्यर्थ पत्नी एवं पुत्र सहित राजा बिक जाते हैं। चौथे अंक में रस परिपाक और काव्य-कला का उज्ज्वल दिग्दर्शन होता है।

प्रारंभिक अवस्था में लेखक आत्म-प्रकाशन की ओर ही अधिक झुकता है। उसका क्षेत्र प्रायः संकुचित भी होता है। उसमें व्यापक भावनाएँ नहीं मिल पाती हैं। आत्म-प्रकाशन के पश्चात् जैसा मैं पहले कह आया हूँ शिक्षा की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार प्रथम दो अंकों में बालकोपयोगी सामग्री बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होती है। इन्हीं अंकों में भारतेंदु बाबू के चरित्र की महानता प्रदर्शित होती है। ऐसा ज्ञात होता है, उन्होंने अपना हृदय, अपनी आत्मा, अपने जीवन का सार तत्व निकालकर रख दिया है। उनके समकालीन लेखक न्यू-मेन की भी यही खूबी थी कि वह अपने को बड़े ही स्पष्ट ढंग से व्यक्त कर सकता था।

इस नाटक में स्पष्टतया भारतेंदु बाबू अपने जीवन को अपने जीवन के आदर्श को रख सके हैं। अपने जीवन की परीक्षा में वे भी इसी प्रकार सफल हुए थे। राजा हरिश्चंद्र ने केवल एक स्वप्न की ही घटना के कारण तो सर्वस्व त्यागकर कष्टों को आह्वान किया। स्वप्न तो सत्य नहीं होता, चाहे कभी उसमें सत्यासत्य ही क्यों न मिले। भार-तेंदुजी ने भी तो स्वप्नों में ही अपनी धन-संपत्ति खोई थी। वे भावुक हृदय थे। भावुकता तो स्वप्नों ही की सहचरी है। इस जगत की वास्तविकता से कोसों दूर रहती है। इसी के कारण अन्त समय में उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ा। यह कष्ट काल सत्य हरिश्चंद्र के चौथे अंक के समान ही आँतरिक दुःख का और काफी बड़ा उनके जीवन में

रहा है। राजा हरिश्चंद्र के समान ही अपने चित्रों की एक अप्राप्य निधि अपने एक मित्र को वे दे चुके थे किंतु उफ तक न की। उनका वह मित्र भी विश्वामित्र से अधिक कठोर हृदय था। उसने वह निधि नहीं लौटाई यद्यपि भारतेंदु बाबू उसे सैकड़ो रुपया उसका मूल्य—अपनी वस्तु का मूल्य देने को उद्यत थे यद्यपि विश्वामित्र ने तो केवल परीक्षा ली थी और वे उनका राज्य अन्त में लौटा देना चाहते थे।

पहिले अंक में इन्द्र-नारद-संवाद कि निम्न कथनों पर विचार कीजिये।

" साधु स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं।"

"अहा ! हृदय भी ईश्वर ने क्या ही वस्तु बनाई है ! यद्यपि इसका स्वभाव सहज ही गुणग्राही हो, तथापि दूसरों की उत्कट कीर्ति से इसमें ईर्षा होती है, इसमें भी जो जितने बड़े हैं, उनकी ईर्षा उतनी ही बड़ी है। हमारे ऐसे पदाधिकारियों को शत्रु उतना संताप नहीं देते जितना दूसरो की संपत्ति और कीर्ति।"

"बड़ाई उसी का नाम है जिसे छोटे-बड़े सब मानें।"

" जिसका भीतर बाहर एकसा हो और विद्यानुरागिता, उपकार-प्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों, अधिकार में क्षमा, संपत्ति मे अन-भिमान और युद्ध में जिसकी स्थिरता है वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है।"
" बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता है। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है।"

इसी प्रकार गृह-चरित्र, 'महात्मा एवं दुरात्मा' भेद आदि के कथन प्रायः उनके चरित्र पर ही घटित होते हैं। बाल-शिक्षोपयोगी है और सरलता से उनमें प्रकट किये गये हैं।

दूसरे और तीसरे अंक में उनके इस कथन की " भला जिसने पहले अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किये है उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है" परीक्षा होती है।

महारानी शैब्या दुःस्वप्नों को देखकर भयभीत हो जाती है महाराज हरिश्चंद्र जब अपने स्वप्न में राज्य दान में देने की बात उसकेसमक्ष रखते हैं तब वह कुछ अद्भुत बात सी समझती है किन्तु शीघ्र अपनी गलती स्वीकार कर लेती है। पति की सहगामिनी होकर दासत्व स्वीकार कर लेती है, बिक जाती है। चौथे अंक में उसका वह अंश भी हमें देखने को मिलता है जहाँ वह करुण हो गया है। इसमें संदेह नहीं शैब्या का विलाप साधारण स्त्रियों के दहाड़ मारकर रोने सरीखा हो गया है, वह बाह्य है और हृदय की अनुभूति उसमें पूर्ण रूप से जैसी चाहिये वैसी नहीं पाई जाती क्योंकि केवल रोने से या ऊपरी शब्दों के कथन से ही रस की उत्पत्ति नहीं होती। उसमें हृदय के भावों का सामंजस्य चाहिये शब्द चाहे करुणा पूर्ण भले ही न हों। विषय का विस्तार, प्रकटीकरण ही ऐसा होना चाहिये कि वह रस की उत्पत्ति कर दे।। जैसा प्रसंग कारुणिक है, हृदय-स्पर्शी है, मर्म व्यथा पर चोट पहुँचानेवाला है वैसा उसका निर्वाह यथोचित नहीं हुआ है। किंतु एक वृहत् सीमा तक रस का संचरण एवं परिपाक अवश्य करता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

'प्रसाद' के पश्चात् मिश्रजी में हमें एक बड़ी तीव्र, बलवती विचार-धारा, एक वेदना मिश्रित तिलमिलाहट, समाज और परिस्थितियों के प्रति एक मार्मिक किंतु गंभीर व्यंग्य मिलता है।

प्राक्कथन

मिश्रजी ने हिंदी-साहित्य में सबसे पहिले पाश्चात्य प्रणाली, न केवल वाह्य या टेकनिक संबंधी, किन्तु आंतरिक, चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी भी एवं अन्य समस्याओं, जीवन की विषमताओं, भारतीय जीवन में उठनेवाली सामाजिक और साहित्यिक क्रांतियों को भी आधुनिकतम रूप में रखा है। इसमें संदेह नहीं यदि मिश्रजी के नाटकों को खेलेजाने का सुयोग मिलता तो आज से कई वर्ष पहिले हिन्दी-साहित्य-समाज में एक घोर क्रांति की उद्भावना हो जाती और मिश्रजी का अनुकरण तरुण समाज में जीवन और बल प्रदान करता। आज तो शायद हम मिश्रजी की बात सुनने के लिए भी तैयार हैं किंतु उस समय तो हमने मिश्रजी का बहिष्कार कर दिया होता। मिश्रजी के नाटकों का अधिक और व्यापक प्रचार नहीं हुआ, इसका कारण यही रहा कि एक तो हिन्दी का कोई मंच नहीं, दूसरे उनकी भाषा जितनी वेगवती उनकी भूमिकाओं में उनसे व्यक्त हो सकी है उसका दशमांश भी हमें उनके नाटकों में नहीं मिलता। रुक जाने की शैली भी उनकी अस्पष्ट और नाटकीय कला की दृष्टि से भाव-व्यंजक नहीं। तीसरे हमने मिश्रजी में जो खूबी, जो व्यंग्य, जो मार्मिकता, जो कचोट, बेचैनी, तिलमिलाहट, जो आवेग, जो क्रांति, जो भावप्रवणता, जो उथल-पुथल, जो संघर्ष और अंतर्द्वंद्व हैं उन्हें

पहिचाना नहीं है। इस लेखक को शायद हम समझ ही नहीं पाये हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि मिश्रजी को स्टेज पर स्थान मिले तो कतिपय संशोधनों एवं स्टेज की आवश्यकताओं का ध्यान रखने पर भी उनकी कृतिएँ एक मानसिक क्रांति, एक अभूतपूर्व लहर पैदा करने में समर्थ हैं।

इसकी तरफ हमारा ध्यान न जाने का कारण यह भी हो सकता है कि इसने पाश्चात्य जीवन का अनुकरण किया है। इसने पाश्चात्य प्रणालियों एव शैलियों तथा आधुनिकतम विचार धाराओ का अनुकरण तो किया है किंतु वह नकल नहीं है, सफल अनुकरण है। शुद्ध भारतीय है। आवरण अवश्य पाश्चात्य दिखाई देता है किंतु आत्मा शुद्ध भारतीय ही है।

यहाँ पर यह लिखना भी अप्रासंगिक नहीं होगा की इस भावनाओं के नाटक लेखक पर भी असहयोग एवं अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों का काफी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पड़ा है। वह एक ऐसी लहर थी जिसने देश भर में एक जीवन जगा दिया था। इसमें संदेह नहीं १९२० के पहिले भी काफी राष्ट्रीय जाग्रति हो गई थी किंतु वह सीमित थी और उसमें भी ज्यादातर, सैद्धान्तिक थी। क्रियात्मक उतनी नहीं थी। १९२० के पश्चात् एक बार सारे देश में 'एक वर्ष में स्वराज्य' का संदेश पहुँच गया था। लोगों में जाग्रति बिजली के समान फैल गई थी। रामराज्य के स्वप्न भारतवासी देखने लगे थे और एक बार सन् सत्तावन के पश्चात् उन्होंने समझा था कि हम मुक्त हो सकेंगे। पराधीनता से अपना पीछा छुड़ा सकेंगे। इसके पहिले जनता का ध्येय सामाजिक सुधारों की ओर ही था किंतु इसके पश्चात् कुछ समय तक वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रही और उसमें धीरे-धीरे

लेखक पर राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव

आत्मिक बल का संचय और वृद्धि होती रही । इसके साथ ही जब बाह्य आंदोलन अथवा युद्ध बन्द हुआ तो देश का काया पलट हो गया था । पाश्चात्य एव पौर्वात्य सब धाराएँ —सब प्रकार की नवीन धाराएँ सहस्रों मुखी हो फूट पड़ीं । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जाग्रति के चिह्न नजर आने लगे । जीवन पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। आंदोलन अथवा युद्ध तो बन्द हो गया किंतु उसका प्रभाव भारतीय मस्तिष्क पर काफी पड़ा और वह प्रभाव साहित्य की अनेक धाराओं में से बह निकला और आज भी बह रहा है । निकट भविष्य में भी बहता जायगा । इतनी प्रचुर सामग्री उस लहर ने भारत को, भारतीय मस्तिष्क को, प्रतिभा को, लेखको, साहित्यिकों एव कलाकारों को दी है । यद्यपि आज का लेखक चाहे यह स्वीकार न करे कि उस पर क्रांति का जो अब तक हो रही है और जब तक महात्माजी जीवित हैं तब तक चलती रहेगी, असर पड़ा है, क्योंकि उसके परोक्षभाव का अनुभव वह नहीं कर रहा है किंतु उस लहर ने जो कण भारतीय वातावरण में फैला दिये है वे उड़-उड़ कर उसकी प्रत्येक स्वॉस के साथ उसके हृदय को स्वच्छ और उसके मस्तिष्क को उर्वर बना रहे हैं । उसकी वाणी में जोश, उसकी कार्य प्रणाली में त्याग, उसकी आत्मा में शक्ति, द्वंद्व, उस उस द्वद्व से लड़ने की ताकत, सत्य के प्रति आग्रह, युद्ध की भावना, विद्रोह की भावना और जनता-जनार्दन तक पहुँचने की आकांक्षा उसी क्रांति के कणों द्वारा हममे जाग्रत हुई है ।

इसी प्रकार न केवल जीवन के किन्तु साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी वे कण फूट निकले हैं । जब 'प्रसाद' से लेखक में उसका प्रभाव अंकित होता है तो मिश्रजी सदृश सामयिक समस्याओं पर लिखनेवाले लेखक पर उसका प्रभाव न पड़ता यह संभव नहीं था । मिश्रजी के नाटकों में तो कई रूप में यह पड़ा है; राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक,

पाश्चात्य शैली एवं विचारों सम्बन्धी। मिश्रजी स्वय यह स्वीकार करते हैं कि कलाकार को अपने युग की जिंदगी बिताना चाहिए।

इस दृष्टि से यह लेखक बड़ा सौभाग्य शाली है कि इसने सामयिक घटनाओं और पात्रों को, वातावरण को अपने नाटकों में स्थान दिया है।

लेखक की विशेषता

तत्कालीन परिस्थितियो एवं पात्रों का चित्रण जितना सरल है उतना ही कठिन भी है। इनके चित्रण के लिये मस्तिष्क का परिष्कृत एवं निष्पक्ष होना, हृदय का सरल, निष्कपट और सब के लिये सहानुभूति एवं समवेदना पूर्ण होना, दृष्टिकोण का व्यापक होना, लेखक की सूक्ष्म दृष्टि का होना, उसमें अवलोकन और ग्रहण करने की शक्तियों का होना अत्यंत आवश्यक है। ये बातें जितनी ही उसमें अधिक होंगी वह उतना ही सफल लेखक अथवा कलाकार हो सकता है। सामयिकता को प्रकट कर देना अभिशाप नहीं है जैसा कि कतिपय कलाकार सोचा करते हैं। प्रत्येक कलाकार, साहित्यक अथवा लेखक को अपने युग की जिंदगी तो बितानी ही पड़ती है। जिस युग में वह खेलता-कूदता, पढ़ता-लिखता, विचार-विनिमय करता उसका प्रभाव उस पर न पड़े यह सभव नहीं। वह कल्पना की उड़ानें कितनी ही भरता रहे किंतु उसकी कल्पना का आधार वही युग, उस युग की घटनाएँ, वातावरण एवं भावनाएँ और अनुभूतिएँ ही रहेंगी। हाँ चूँकि उसमें ग्रहण शक्ति बड़ी तीव्र होती या जितनी तीव्र होती है उसके अनुसार वह युग से जल्दी से जल्दी भावनाएँ विचार धाराएँ ग्रहण कर लेता है और उसकी प्रतिभा एक सुन्दर सुव्यवस्थित और सुचिंतित रूप में उन्हें प्रकट कर देती है। अन्य साधारण एव निम्न कोटि के लेखको को इसी मनोवैज्ञानिक क्रिया में—ग्रहण एवं प्रकटी करण में—काफी समय लग जाता है। कभी-कभी अन्य कारण भी ऐसे आजाते हैं जिनसे इनमें व्यवधान अथवा व्याघात पड़

सकता है, किंतु इनके कारण लेखक का महत्व कम नहीं होता यदि वह उस समय तक की विचार-धारा से पहिली का उचित समन्वय कराकर अपने को व्यक्त करे।

काल विशेष के पात्र, परिस्थितिएँ एवं वातावरण प्रभावित भी अधिक करते हैं। वे रोचक भी अधिक होते हैं क्योंकि इन के द्वारा मनुष्य अपने को ही देखते हैं। हमारे गुण-दोषों का विवेचन हम निष्पक्ष होकर कला-प्रदर्शन के जरिये देख सकते हैं। कभी-कभी हमें अपनी बुराइयों पर क्रोध भी आ जाता है। एक खीझ और झल्लाहट हम में पैदा होती है। विशेष कर तब जब कि उक्त कला प्रदर्शन में हमारा जातीय सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा एकांगी चित्रण हो। इसलिये आधुनिक चित्रण के कलाकार को बड़ा सतर्क रहना चाहिये और उसे समदृष्टि तथा निष्पक्ष होना चाहिये। उसके लिये केवल कला की ही दृष्टि से लिखना श्रेयस्कर है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक समस्याएँ तो रखे उसके हल भी वह रख सकता है किंतु उनका हल अंतिम रूप में न रखे, यही उसके लिये उत्तम होगा। फिर भी उसकी प्रतिभा के लिये, कला के लिये कोई इस प्रकार का बंधन नहीं निर्धारित किया जा सकता है।

एक समय था जब हिंदी की प्रगति का प्रारंभिक काल भारतेंदु के बाद भी आया और तब हमने अपने प्राचीन पौराणिक ग्रंथों की ओर ध्यान दिया और अपनी नाटकीय सामग्री के लिये उनसे मसाला इकट्ठा किया। जनता में उनकी रुचि भी काफी रही। लोगों ने 'महाभारत', 'अभिमन्यु', 'तिलोत्तमा' आदि नाटक पढ़कर आत्मतुष्टि की। 'कृष्णार्जुन' और 'वरमाला' के सफल अभिनय देखकर वे मुग्ध हुए। फिर इनसे जब कम तृप्ति का आभास मिलने लगा तो हमने पुराणों की ओर से इतिहास की ओर आना प्रारंभ किया। 'दुर्गावती' 'महाराणा प्रताप' आदि हमारे सफल नाटकों में समझे गये। ऐतिहासिक

नाटकों में सबसे सफल और उत्तम प्रयास 'प्रसाद' का है। 'प्रसाद' की नाटकीय कला में हमने सबसे पहिले इतिहास के गंभीर और मौलिक अध्ययन की प्रवृत्ति प्रचुर और श्रेयस्कर रूप में पाई।

इधर सेठ गोविंददासजी ने भी ऐतिहासिक नाटकों का सुन्दर रूप हमारे सामने रखा है। इनके अतिरिक्त हमारी तुच्छ सम्मति में किसी ने ऐतिहासिक सामग्री का सुन्दर उपयोग नहीं किया है। उदयशंकर भट्ट का प्रयत्न सफल प्रयत्न को छूता हुआ नही दिखाई देता।

कहने का आशय यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों (साहित्य) के पढ़ने से जब हम ऊब से जाते हैं तब सामयिक और सामाजिक नाटकों के प्रादुर्भाव की आकांक्षा स्वभावत. हम में जाग्रत होती है। पौराणिक कथाओं में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वे हमें प्रभावित कर सकें। इतिहास के अध्ययन की ओर से अब रुचि हटती सी जा रही है। आज के कवि, कलाकार, साहित्यिक से आधुनिक युग जीवन का सपर्क, जीवन का सघर्ष, जीवन का समन्वय और विश्लेषण, जीवन की समता और विषमता चाहता है।

पौराणिक आख्यानों को इतने दीर्घकाल ने अब हमारे वर्तमान संघर्षों और जीवन से बहुत दूर फेंक दिया है। हम उस युग की विशेषताओं को हमारे उस पूर्व युग के गौरव को स्वीकार तोकरते हैं किंतु वह हम में उतना स्पंदन, कपन पैदा नही करता। कई ऐसे प्रबल कारण उत्पन्न हो गये हैं जिनसे इतिहास से भी हमें वैराग्य सा हो गया है। इस विरक्ति का प्रभाव हमारे जीवन पर भी काफी पड़ा है। ऐतिहासिक या सुदूर ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे जीवन में धक्के भले ही दे दें, उनसे हमें कुछ प्रेरणा एवं उत्तेजना भी मिल जाय किंतु वे हमारी आज की समस्याओं पर चुप हैं। समस्याएँ, जीवन की विषमताएँ आज बढ़ती जा रही हैं। बहुमुखी हो रही हैं। कुछ अशों में इतिहास की

पुनरावृत्ति के सिद्धांत को झूठा कर रही हैं। ऐसी परिस्थिति में मिश्रजी ने सामयिकता को अपना कर हिंदी नाट्य-साहित्य में नव जीवन, नव विचार धारा, एक नवीन प्रणाली की सृष्टि कर उसका कल्याण किया है। उपन्यासो और कहानियों के क्षेत्र में हमारे युग के मापदंड के लिये जो प्रेमचदजी ने कार्य किया वही कार्य मिश्रजी द्वारा भी नाट्य क्षेत्र में संपन्न होता यदि इसमें कतिपय भाव प्रकाश-सबंधी दोष न आ गये होते और इस लेखक ने एक व्यवस्थित और जोरदार भाषा उस विचार धारा के व्यक्त करने के पहिले प्राप्त कर ली होती। जितनी तीव्र विचार धारा का प्रवाह मिश्रजी में हमें मिलता है उसके योग्य उसे अभिधान पहिनाने में लेखक ने प्रयत्न शायद जान बूझकर नहीं किया है। मिश्रजी में हमें हमारे युग की समस्याएँ, माँग, व्यक्तीकरण, सघर्ष सामाजिक और जातीय दोनों ही बड़े तीव्ररूप में मिलते हैं। दुःख इतना ही है कि इसके नाटको के अभिनय देखने का अवसर नहीं आया ताकि समुचित रूप से उनका परीक्षण हो सकता।

मिश्रजी की रचनाओं का एक अभाव

मिश्रजी में एक दोष भी है जो शायद आगे जाकर निकल जावे। वह यह कि उनकी रचनाओं में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का ही चित्रण हुआ है। जीवन के कुछ ही अंगों पर प्रकाश डाला गया है। जीवन के विभिन्न और सब प्रकार के पात्रों का समावेश अब तक मिश्रजी से नहीं हो सका है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी के पात्रों के चित्रण का प्रायः अभाव है। उनके सब पात्र प्राय जमींदार, धनवान तथा प्रोफेसर हैं। शायद वे इस असंपूर्ण जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करें। इसीलिये जहाँ वे जीवन का संपर्क कला के लिये आवश्यक मानते हैं वहाँ संपूर्ण जीवन तक अवस्था के कम होने के कारण अभी तक नहीं पहुँच पाये हैं। अभी तक कॉलेज जीवन का प्रभाव

लक्षित होता है। वे स्वयं मानते हैं कि कलाकार में विश्व की व्यापक भावनाएँ होना चाहिये, किंतु उनमें अभी वे व्यापक भावनाएँ नहीं आ पाई हैं। एक विशेष स्थल पर टिके हुए अथवा शिक्षित समुदाय में प्रकट होनेवाली विषमताओं का ही प्रदर्शन है।

एक भ्रांति का निवारण

कहा जाता है कि बरनर्डशा के अनुकरण पर मिश्रजी ने रचनाएँ की हैं क्योंकि उनकी कथा वस्तुएँ राजनीतिक और सामाजिक हैं। उनमें कटु व्यंग्य और परिहास है। किंतु दोनों की रचनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें केवल बरनर्डशा का ही अनुकरण नहीं है (यद्यपि इस अति प्रसिद्ध और एक आधुनिक उच्च कोटि के नाट्यकार का अनुकरण बुरा नहीं) किन्तु पाश्चात्य शैली, भावों, समस्याओं, घट-नाओं और वस्तु-प्रदर्शनों का भी अनुकरण एवं भारतीयकरण मिलता है। पाश्चात्य नाटक विशेषकर सामाजिक और राजनीतिक आज जिस स्तर पर हैं मिश्रजी ने हिंदी नाट्य साहित्य को उसी स्तर पर रखने की किन्हीं अंशों में सफल चेष्टा की है और इसीलिये उनकी कथावस्तु, समस्याएँ और पात्र ऐसे होते हैं जो उच्च, शिक्षित, जमींदार धनी वर्ग ही में, विशेष कर बड़े-बड़े शहरों के वातावरण में पाये जाते हैं। अभी तक मिश्रजी की पहुँच और दृष्टि इन्हीं तक सीमित रही है और इन्हीं का चित्रण उन्होंने किया है। इसी कारण उनमें कतिपय ऐसी समस्याएँ आ गई हैं जो आगे यूरोप और अमेरिका के समान भारत में भी उठनेवाली हैं, चाहे मिश्रजी ने जैसा सोचा हो उसके अनुरूप वे न होवें। उन्होंने अपनी कल्पना के आधार पर, पाश्चात्य समस्याओं पर विचार कर भारत में उनका आधार कितना ग्राह्य हो सकता है इसके आधार पर अपने कुछ हल भी निकाले हैं। वे कहाँ तक सत्य होंगे यह भविष्य ही बतायेगा।

सन्यासी में ऐसी ही कथा-वस्तु है। यद्यपि वृद्ध-विवाह भारतीय ढंग पर है किंतु वातावरण वही पाश्चात्य है। वृद्ध-विवाह करनेवाले प्रोफेसर दीनानाथ हैं किंतु विवाहित ललना कोई अपढ़ भारतीय नारी नहीं, एक शिक्षित महिला है। दोनो का गठ-बंधन हो जाता है। इसमें सत्यांश अवश्य है। एक समय था और आज भी ऐसी ही अवस्था है। "शिक्षकों के बारे में भी दो शब्द। प्रथम श्रेणी का एम्० ए०, प्रोफेसर होने की योग्यता है। चरित्र का संस्कार हो या नहीं। इसी नाटक में (सन्यासी में) एक प्रोफेसर साहब जो अभी नई उमर के हैं एक लड़की से प्रेम करने लगते हैं। उनकी शिक्षा उनके भीतर जो प्रकृति है उसे दबा नहीं सकी। दूसरी ओर एक दूसरे महाशय, जिनकी अवस्था पचास से भी अधिक है और जिनका सारा जीवन साहित्य की शिक्षा देने में बीता है, जवान लड़की से विवाह करते हैं उसको तृप्ति उनसे नहीं होती। इस प्रकार,जीवन जटिल और विषम हुआ है।" (मिश्रजी)

जटिलता एव विषमता का चित्रण

इसी जटिलता और विषमता का, विश्वकान्त और मालती के प्रणय प्रेम एवं किरणमयी और मुरलीधर के मानसिक सघर्ष और अन्तर्द्वंद्वों का सुन्दर चित्रण हुआ है। लेखक के मस्तिष्क में जो कॉलेज जीवन के चित्र, जो प्रभाव, अंकित हुए हैं उनका यथातथ्य चित्रण तो है किंतु उनमें परिपक्वता की कमी विद्यमान है। चरित्र-चित्रण अधूरा है। कई अस्वाभाविकताओं की सृष्टि भी लेखक ने इसीलिये कर डाली है।

मिश्रजी में कई दोषों के बावजूद भी जो एक सब से बड़ी बात पाई जाती है वह है उनकी सजीवता। लेखक में जीवन, यौवन, छटपटाहट, संघर्ष, द्वन्द्व, विचार-धारा बड़ी तीव्रता से दौड़ती है। उसके जीवन का वह रस अपनी रचनाओं में जहाँ तक हो सका है पूर्णतया ढाल सका है। इसीलिये

सजीवता

उसकी कथावस्तु पौराणिक तथा ऐतिहासिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक है। यद्यपि जीवन के बहुत कम अंगों का चित्रण वह अभी तक कर पाया है किंतु जितने सीमित क्षेत्रवाले जीवन का उसने चित्रण किया है उसमें उसका जीवन, जीवन की सजगता, ओज, संघर्ष और द्वन्द्व, विषमताएँ और जीवन-समन्वय भी पाया जाता है। वह स्वयं लिखता है, "जिसे जीवन की कल्पना करनी है – जीवन का निर्माण करना है जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ सकता। जिन सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है, यदि हम चाहें भी तो उनका समावेश इतिहास के महान् चरित्रों में नहीं करा सकते। इस कारण हमें हार कर सामाजिक चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी।" लेखक ने ईमानदारी, सच्चाई और अपनी योग्यता एवं मानसिक विकास के जिस स्तर पर वह था वहाँ तक यही किया है। इसीलिये उसने ऐसे पात्रों के "उन चरित्रों की जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन में मिल सके" सृष्टि की है। लेखक ने रोम्याँ रोलाँ के कथन का अवतरण दिया है। "प्रेम और कला के विषय में दूसरों ने क्या कहा है यह पढ़ना व्यर्थ है। हम वही कह सकते हैं जो हम अनुभव करें और वे जब तक कि उन्हें कुछ कहना नहीं होता और कहने में जल्दी कर बैठते हैं कुछ भी नहीं कर पाते।" इसमें मैं लेखक से बड़े अक्षरों को छोड़ कर शेष से सहमत हूँ। बड़े अक्षरों के संबंध में यही है कि लेखक कुछ कह भी पाया है। अपने को, अपनी कला और विचार-धारा को व्यक्त भी कर पाया है।

"कला का निर्माण कला के लिये" और सोद्देश्य लेखन में जब प्रतिभाशाली लेखक लिखते हैं कोई अन्तर नहीं होता। केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर रह जाता है। देखने से यह अवश्य मालूम पड़ता है

लेखक का चिंतन और चिंतन के प्रकाशन की शैली

कि लेखक ने प्रेमचन्द के समान सोद्देश्य लिखा है, किंतु सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर यथातथ्य चित्रण जिसमें लेखक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भी भाग न लेवे। 'कला कला के लिये' की ही श्रेणी में आ जाता है। इस दशा में भी लेखक सोद्देश्य रचता हुआ भी जीवन का पूरा सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। मिश्रजी से ऐसा ही हुआ है।

मिश्रजी पर जो पाश्चात्य समस्याओं का प्रभाव पड़ा है, जो भारतीय वातावरण में अभी तक अत्यल्प रूप में ही आई हैं और जो शिक्षित समाज एक विशिष्ट समूह में ही सीमित है, उन पर उन्होंने विचार करना अभी से प्रारम्भ कर दिया है। ये समस्याएँ निकट भविष्य में ही अपने तीव्रातितीव्र रूप में हमारे समक्ष आनेवाली हैं। मिश्रजी ने इन्हें ठीक समय पर ग्रहण कर उनका भारतीयकरण किया है और एक साहित्यिक को किस प्रकार तात्कालिक परिस्थितियों से आगे बढ़ कर पथ-प्रदर्शन करना चाहिये इसका आदर्श हमारे सामने रखा है। कलाकार एक बड़ा भावुक और ग्रहणशील हृदय लिये रहता है तथा युग की समस्याओं को जो उस समय रहती है और जो भविष्य का आभास देती हैं या भविष्य में सामने आनेवाली होती हैं उन पर प्रकाश डालता है। मिश्रजी ने यही किया है।

लेखक ने सोद्देश्य लिखा है। उसके निश्चित सिद्धान्त हैं और वह अपने को कलाकार नहीं तत्वदर्शी कलाकार कहता है। उसकी रचनाओं, कलाओं में उसका चिंतन है; किंतु अभी वह उच्च कोटि का नहीं हो पाया है। उसके चिंतन में कतिपय दोष भी हैं। उसने समस्याओं के हल केवल समझौते के ही रूप में रखे हैं। जीवन में इनका महत्व अवश्य है किंतु प्रभाव इनके विरुद्ध होता है। समस्याएँ जीवन के अभावों को कम कर सकती हैं, जीवन को जीवन की परिधि में घेरे रह सकती है,

किन्ही अंशो में सुख और आनन्द की सृष्टि भी करती हैं। जीवन को महत् और पूर्ण बना सकती हैं। किंतु ऐसा होता नही। क्यो ऐसा होता नहीं? इनके स्थान पर विषमताओं और जटिलताओं की सृष्टि क्यो हुआ करती है? मनुष्य जान कर भी इनमें क्यों फँसता जाता है और अन्त इनमें से निकलने में क्यो असमर्थ पाता है? वह जीवन में समझौता जिसका करना उसके लिये अनिवार्य और आवश्यक होता है क्यों नहीं कर लेता? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका विवेचन उसके समान तत्वदर्शी कलाकार को करना चाहिये। लेखक ने इन्हीं के विवेचन के लिये पाश्चात्य ढग पर मनुष्य में देवता और राक्षस की सृष्टि की है। कभी देवता उसका पथ-प्रदर्शन करता है और कभी राक्षस। कभी सद्प्रवृत्ति उसमें जाग्रत होती है और कभी असत्।

प्रेमचन्द के समान इस लेखक की भी एक बडी भारी खूबी है वह यह कि इसने मानव-जीवन के नारी-जीवन भी जिसमें सम्मिलित है--कोमल से कोमल भागों को भी स्पर्श किया है और वहाँ से वह सफलता, अश्लीलता और सुन्दरता के साथ निकल आया है। क्षुद्र कोटि के लेखकों के समान वह केवल बिजली के धक्के, प्रेम का उन्माद नहीं देता। उनमें जीवन का सार भाग, सुन्दरता और गौरव की सृष्टि करता है। ऐसे स्थलो को, कुछ क्षीण अश्लीलता के होते हुए भी वह महत् बना जाता है। अपने आदर्श और उद्देश्य से गिरता नहीं।

लेखक का जो उद्देश्य उसकी रचनाओं में है वह उसी के शब्दों में पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। इसलिये उसके उद्धरण देना अच्छा है। वह लिखता है, "मैंने जो अनुभव किया है, देखा है उसे ··नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ--ज्यों का त्यो—ईमानदारी के साथ।" चरित्रो के संबध में, "मैंने अपने चरित्रों को यथाशक्ति जीवन के

अनुकूल बनाया है। उनके हँसने में और उनके रोने में तुम्हें अपने जीवन की बातें मिलेंगी।" "मैंने जानबूझ कर मनोरंजन के लिये या धोखा देने के लिये किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को जिंदगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। मैंने उन्हें देखा है और समझा है उनकी सभी बातों को, उनकी सारी जिंदगी को।" "हमारा-तुम्हारा या सब किसी का सत्य इसमें नहीं है कि हम सब क्या थे या क्या हैं? बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे? हमारा सत्य हमारे भविष्य में है।" "जहाँ मुझे विश्वास नहीं हो सका, वहाँ मैंने अविश्वास प्रकट किया।" "मैंने विद्रोह करने के लिये विद्रोह नहीं किया है।" "पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणु की तरह प्रवेश कर हमें अशान्त बना रहे हैं हम समझते हैं विकास हो रहा है। भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास का अवसर यहाँ नहीं।" लेखक ने अपनी नाट्य-रचनाओं में इन्हीं को व्यक्त करने की चेष्टा की है। (राजा महेन्द्र-प्रतापसिंह के आधार पर 'सन्यासी' में विश्वकान्त का चरित्र और एशियाई संघ के स्थापना की कल्पना भी की है। भारतीय संघ ही एक बड़ा काम कर सकता है। भारत और चीन का मतलब है आधी दुनियाँ। राजनीति तो राष्ट्रों के स्वार्थ और स्वहिताहित पर निर्भर रहती है और जापान ने इसका प्रबल और पुष्ट उदाहरण सामने रखा है।)

मिश्रजी की गति निम्न कोटि के पुरुष-पात्रों के चरित्र चित्रण और उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रायः बिल्कुल नहीं है। ऐसे पात्रों की ओर उन्होंने या तो सूक्ष्म दृष्टि से देखा ही नहीं है

मिश्रजी के निम्न पात्र

अथवा उनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया है। 'असगरी' और 'सुखिया' के चरित्र-चित्रण में अवश्य एक सीमा तक वे सफल हुए हैं किंतु साधारण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, वह तक पहुँच नहीं। पुरुष पात्रों में, 'संन्यासी' में मोती, 'मुक्ति के रहस्य' में जगई और 'राजयोग' में गजराज हैं।

निम्नपात्रों का चरित्र-चित्रण और उनमें मनोवैज्ञानिकता का अभाव

मोती मालती के पिता उमानाथ का व्यभिचारजन्य एवं पौष्य पुत्र है। वह मालती का मोटर-ड्राइवर है। इसका चित्रण बिलकुल अधूरा और अस्पष्ट है। वह बचपन से इन्हीं के घर में पला-पुसा है शायद इसीलिए वह अपने को नौकर नहीं समझता हो। मनुष्य में स्वाभिमान रहता ही है। नौकर होते हुए भी उसमें स्वाभिमान है। किंतु मोटर ड्राइविंग कोई सम्माननीय पेशा नहीं। वह घर में इतना मुँह लगा शायद होगा कि मालती से भी बराबरी की और घर के समान बातें कर सके। किन्तु एक साधारण-सी घटना पर उसके स्वाभिमान का एकाएक सीमांत पर चढ़ जाना अस्पष्ट है, विकास की सूचना नहीं देता। कभी एकाएक ठेस किसी बात से अवश्य लग जाती है किन्तु निम्न श्रेणी में रहते हुए एकाएक उस पर ठेस पहुँचना जरा विचारणीय है। वह कहता है, "मैं नौकर हूँ" जैसे उसने अब तक अपने को नौकर न समझा हो।

इसी प्रकार से गजराज के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में भी मिश्रजी सफलता से कहीं दूर हैं। इसमें संदेह नहीं मनुष्य का हृदय, विशेषकर एक निष्कपट, निष्कलंक, पुण्यात्मा, सदाचारी का हृदय अपने किये हुए पाप पर अवश्य पछताता रहता है। हमेशा उसका मस्तिष्क हृदय की पुकार पर विचलित हो-हो उठता है। किंतु गजराज का (राजयोग में) अनुताप एकदम जाग्रत हो गया है। पहिले इस प्रकार का अनुताप उसे

रहा जरूर है। यह पात्रों के कथन से ज्ञात तो होता है किन्तु उसका इतना वाह्य-रूप कभी पहिले प्रकट नहीं हुआ था। उसी दिन और उन्हीं दिनों में वह इतना प्रबल हो उठता है कि वह क्या माया, क्या शत्रुसूदन और क्या रघुवंश सब पर पहेली-सी बुझाता हुआ प्रकट करता रहता है। इसका स्पष्ट कारण कथावस्तु से ज्ञात नहीं होता कि सहसा उसकी यह मनोव्यथा क्यों चरम सीमा पर पहुँच गई जिसके दबाने में वह असमर्थ हो उठा और अपने राजा, रानी और दीवान के सम्मुख भी बड़े ही विकृत रूप में प्रकट करने लगा। साथ ही उसमें एक विचित्रता आ गई है वह यह कि सबके दुःखो का कारण वह स्वय अपने को समझने लगा। वह सब पर इसे मौके-बे-मौके प्रकट भी करने लगा जैसे वह पागल हो उठा हो और उसकी ज्ञानेंद्रियों ने एकदम अपना काम छोड़ दिया हो। अन्त में जाकर ऐसा ज्ञात होता है कि जो कथावस्तु रघुवंश के दुःख से शुरू हुई, शत्रुसूदन और माया के आत्मिक द्वन्द्वो में से गुजरी, वही गजराज की चरमसीमा के अनुताप में और उसके अनुताप के निवारण में समाप्त होती है। इस प्रकार तीन स्थलो पर वह त्रिमुखी हो उठी है और बाद में गजराज के चित्रांकण पर जोर देकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को दोषपूर्ण बना देती है।

इसी प्रकार के चरित्रों में हम 'मनोजशंकर' और 'माहिरअली' को भी ले सकते हैं। मनोवैज्ञानिक सत्य को मिश्रजी पहिचान तो लेते हैं किंतु उनसे उनका विश्लेषण और चित्रण नहीं हो पाता। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अस्वाभाविकता ही अस्वाभाविकता रहती है। ऐसे पात्रों में अवश्य ही एक खटक रहती है, उनके दिमागों में बेचैनी रहती है। उनके हृदय में एक टीस रहती है। यह सत्य है। किन्तु उनका स्पष्टीकरण बड़ा ही विचित्र होता है जो कि मानसिक क्रिया से परे की बात हो जाता है। लेखक की पर्य्यवेक्षण एव तह तक पहुँचने की शक्ति का ऐसे

पात्रों में सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये बातें तो प्रेमचन्द्र ही में मिलती हैं कि वे पात्रों और घटनाओं की सृष्टि पर उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म जैसा चाहिए वैसा, बारीकी से बिना अस्वाभाविक हुए चित्रण करते चले जाते हैं। मिश्रजी ने अभी संसार को खुल कर नहीं देखा है। वे उसमें ऐसे पात्रों के चरित्रों में स्वयं नहीं रमे हैं। केवल साहित्य के आधार पर उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है।

'मनोजशंकर' को एक बेतुकी धुन सवार है। उसके पिता को मरे दस वर्ष व्यतीत हो गये। उस समय वह बहुत छोटा था। उससे कहा गया कि वे नदी में डूब गये हैं। वह सोचता है उन्होंने आत्मघात कर लिया है? दस वर्ष से उसके मस्तिष्क में यही ठेस पैदा हो गई है जो उस सदा कवि-हृदय और मस्त रहनेवाले युवक को बार बार बेचैन कर देती है। हमेशा उसे यही खयाल रहता है कि मेरे पिता ने आत्म-हत्या क्यों की? मैं आत्म-घाती पिता का पुत्र हूँ, किसी योग्य नहीं। संसार में कुछ नहीं कर सकता। यही बेचैनी उसे सताया करती है। मौके-बे-मौके 'मोती' और 'गजराज' के समान वह भी इसे प्रकट करता है। कभी कभी तो उसका प्रकट करना भौंडा और अरुचिकर हो जाता है। ('सिंदूर की होली' में लेखक भाव-प्रधान भी हो गया है जिसमें व्यापार और घटनाएँ कम हैं, विचार अधिक। वे भी कवित्व एवं गद्य काव्य पूर्ण, किंतु सुन्दर, व्यंग्यपूर्ण, मार्मिक और तीव्र।)

इन्हीं में 'माहिरअली' है। वह डिप्टीकलक्टर मुरारीलाल का मुंशी है। 'मनोजशंकर' के पिता की हत्या मुरारीलाल ने की है। इसके सहयोग और जानकारी से। किन्तु वह सोचता है या उसे यह धमकी दी गई है कि यदि वह प्रकट कर देगा तो उसे फाँसी होगी। एक तो उसे यह डर था ही और साथ ही वह इतना भोला भी है कि उसने समझ लिया कि उसकी सहायता के कारण ही घातक तो बच जायगा और उसे फाँसी चढ़ना

होगा, यह बात कुछ जँचती नहीं। वह भोला हो सकता है, किन्तु एक डिप्टी कलक्टर का मुंशी होकर बुद्धू नहीं। फिर वह मुसलिम पात्र है जिसका स्वभाव ही ऐसा नहीं। ऐसा यथार्थ मुसलिम पात्र तो वह होता जो डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल को अपने हाथ में लिये रहता। इसका ही चित्रांकण ठीक होता। किन्तु बात सर्वथा इससे उल्टी हुई है। इसी प्रकार उसकी मानसिक खटक भी अन्य ऐसे पात्रों के समान ही बेतुकी, मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता और वास्तविकता से दूर की हुई है।

मिश्रजी का नारी-चित्रण

नारी युग-युग से सृष्टि के प्रारम्भ से प्रताड़ित होती रही है। उसे पुरुष ठुकराता, निम्न समझता, उसे 'पाँवों की जूती' और अपनी वासना तृप्ति एवं उपभोग की वस्तु समझता आ रहा है। पुरुष ने नारी का सम्मान भी किया, उसे श्रेष्ठ भी समझा, किंचित कभी-कभी उसमें उसने माता, भगिनी और पुत्री का रूप भी देखा किन्तु उसमें सदा व्याप्त रहनेवाली नारी की उसने सदा अवहेलना ही की। स्त्री-रूप में ग्रहण कर उसने प्रमदा, लक्ष्मी, रमा, सखा, मित्र, कामदा, सरस्वती कहा। उसने उसके षोडसी रूप की पूजा की। उस समय उसने लुभाया, फुसलाया और सिर पर बैठा लिया। किन्तु इसके बाद मातृत्व के स्थान पर बिठा कर वह उससे डरा, सशंकित रहा, आत्मार्पण भी उसने किया, अवसरों पर पराजित भी वह हुआ किन्तु उसने यह कभी नहीं भुलाया कि वह पुरुष है और वह नारी। वह श्रेष्ठ है और वह निम्न। वह शक्तिशाली है और वह निर्बल। वह कर्त्ता-धर्त्ता, पोषक और विजयी है तथा वह क्रियमान, पोष्य और पराजित। सृष्टि रचना करना उसका काम है और सृष्टि की धात्री बनना नारी का।

पुरुष के विकास में नारी ने कई युग देखे। आदि युग में नारी नर की निर्बल साथी रही। विकास के प्रारम्भिक युग में वह उसकी संतान

की पोषिका और रक्षिका, स्वर्ण युग में वह उसकी वासना और उपभोग की सामग्री, मध्य युग में वह वीरव्रती किन्तु निर्बल, असहाय, दुखी और पुरुष की मूर्खता, अहमन्यता और पाखंड की शिकार। आज, आज भी वह, सभ्यता, विज्ञान, विकास के युग में आदरणीय उपभोग्या, सोने की जंजीरों से जकड़ी हुई दासी, परकटी हुई स्वामिनी, प्रकृति पराजित शिक्षिता, कानून की रूह से धन और अधिकार प्राप्त करनेवाली भिखारिणी मनुष्य की मनुष्यता से विवश, मनुष्य के विष और गर्मी को पचानेवाली, ऐसी ही तो है न वह नारी।

मनुष्य अविवाहित रह कर संतुष्ट रह सकता है परन्तु वह अविवाहित रहता नहीं। स्त्री अविवाहित रह कर मनुष्य की अहमन्यता को चुनौती दे सकती है किन्तु ऐसा वह कर नहीं सकती, यही तो विषमता है और विवाह को उत्तेजना देती है। जिस दिन विवाह का जन्म हुआ उस दिन नारी ने अपने स्वार्थ अपनी भलाई के लिए अपना पथ प्रशस्त किया। जान बूझ कर मनुष्य की उच्छृंखलता, उद्दंडता को दमन करने के लिए, उसके विष और गर्मी को आत्मसात् करने के लिए बंधन मोल लिए। विवाह किसी नारी मस्तिष्क की ही उपज मालूम पड़ती है। उसने देखा होगा यह उत्पाती, स्वतंत्र-नर, गोरिल्ला युद्ध करता है: सामने नहीं आता। तब उसने नर को पराजित करने के लिए नवीन युद्धास्त्र, नाग फाँस का निर्माण किया। किन्तु उसका यह दृढ़तम और सर्वोत्तम शस्त्र अब जंग खा गया है, बिगड़ गया है, अधार, कुंठित और पुराना हो गया है। मनुष्य उसके इस शस्त्र से, इस शस्त्र की कलाओं से भी अब परिचित हो गया है। आज वह फिर चाहता है कि खुल कर खेले। वह चाहता है नारी स्वतंत्र होकर उससे शोषित बनी रहे। उसकी स्वतंत्रता में उसका कल्याण है। वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासन चाहता है। नारी की प्रकृति का अनुचित लाभ उठाना चाहता है।

उसमें जो गल जाने की, पिघल जाने की, आत्मार्पण करने की, पुरुष की अंकशायिनी बन जाने की भावना है उससे वह पराजित होकर भी अपनी अहमन्यतावश विजयी कहलाना चाहता है। नारी-स्वातंत्र्य-आन्दोलन आज इसी का तो परिणाम है। क्या नारी स्वतंत्र होकर सुखी होगी? क्या सुखी हुई है? क्या सुखी हो रही है? क्या स्वतंत्र होकर संघर्षों, द्वंद्वों और समस्याओं को उसने जन्म नहीं दिया है? तब वह क्या करे? स्वतंत्र रहना उसके लिए हित कर नहीं। बंधन सहित वह सुखी नहीं। यही तो विषमता है। इसी समस्या का आभास हमें मिश्रजी में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

नारी स्वेच्छा से विवाह करती है तो वह कई मूर्खताएँ कर सकती है, भ्रान्त धारणाएँ बना सकती है। पिता यदि उसे समर्पित करता है तो वह आज पूर्ण निस्वार्थ नहीं रहा। शायद वह पूर्ण निस्वार्थ नहीं रह सकता। उसके साथ उसका वातावरण है, उसका समाज, उसका समुदाय है। उसका पाखंड उसकी अहमन्यता (Vanity) है। और यदि उसमें पुत्री के दृष्टिकोण से विचार करने की क्षमता का अभाव है तो वह सर्वनाश कर सकता है। तब नारी क्या करे? उसकी प्रकृति उसे पुरुष की ओर आकर्षित करती है। वह जल्दी गल जाती है, पिघल जाती है। भुलावे में आ जाती है तो अपने स्वास्थ्य का सर्वनाश करती है। वह ठहरती है तो पतित होने की संभावना रहती है; वह बेचैन रहती है। कुमारी होकर वह मूर्खता करती है। तरुण होकर वह अपने को संभालने में विवश पाती है। प्रौढ़ होने पर मनुष्य उसकी ओर देखना नहीं चाहता। अब वह मनुष्य को नचा सकती है, खिला सकती है, पराजित कर सकती है किन्तु प्रेम नहीं पा सकती। अब मनुष्य उसे चाह सकता है इसलिए नहीं कि वह उससे प्रेम करता है किन्तु इसलिए कि अब वह उसकी सँभाल कर सकती है, उसकी संतान का लालन-पालन

कर सकती है। उसके सुखों के साधनों को सरलता से जुटा सकती है। उसके घर और संपत्ति की रक्षा कर सकती है अर्थात् उसकी अनिवार्य आवश्यकता हो उठती है। ये समस्याएँ हैं जो नर एवं नारी के सहयोग-असहयोग, इच्छा-अनिच्छा से हल की जाती रही हैं। उन्हें करना पड़ता रहा है।

'सन्यासी' और 'मुक्ति का रहस्य' में नारी समस्या का ही प्राधान्य है और 'राक्षस का मन्दिर', सिंदूर की होली', 'राजयोग' और 'आधी-रात' तो सर्वथा नारी-समस्या-मूलक नाटक ही हैं।

मिश्रजी के नारी-पात्रों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वे जो सामाजिक रूढ़ियों एवं अत्याचारों के कारण दुखी हैं। इनमें 'किरणमयी' ('सन्यासी'), 'मनोरमा' ('सिंदूर की होली'), 'दुर्गा' ('राक्षस का मन्दिर') और 'चम्पा' (राजयोग) इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे वे जो पाश्चात्य अथवा आधुनिक शिक्षा एवं वातावरण की उपज हैं। इनमें 'अशगरी' एवं 'ललिता' ('राक्षस का मन्दिर') 'आशादेवी' ('मुक्ति का रहस्य'), 'चन्द्रकला' ('सिंदूर की होली'), 'मायावती' (आधीरात') और 'मालती' ('सन्यासी') हैं।

किरणमयी वृद्ध विवाह की प्रतिक्रिया है। वृद्ध प्रो० दीनानाथ योग्यता और शायद धन-बल पर उससे विवाह करने में समर्थ होते हैं।

वृद्ध-पत्नी किरणमयी

वह उन्हें बिलकुल नहीं चाहती। तरुणी एक वृद्ध को कैसे चाह सकती है? तरुणाई तो तरुण को, खिलवाड़ों, स्वनिर्मित मूर्खताओं और अज्ञानताओं को, भूलों को पसन्द करती है। फिर नारी के समक्ष धन और योग्यता का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। नारी तो नर को चाहती है। पुरुषत्व की अपेक्षा करती है। वह विवाह के पहिले ही मुरलीधर को चाह चुकी थी। एक तरुणी में पिता तुल्य पति के लिए

क्या प्रेम हो सकता है ? उसमें प्रो० दीनानाथ के प्रति खीझ है, झुँझलाहट है। प्रो० दीनानाथ का ठंडे रक्त से चुम्बन करना तरुणी किरणमयी में गर्मी पैदा करने में सर्वथा असमर्थ होता है। वह सोचती है शायद विवाह इसीलिए, नारी के शरीर को उपभोग्य बनाने के लिए ही तो होता है। तो वह उसका उपभोग करले। ऐसे विवाहों में प्रेम को कहाँ स्थान मिल सकता है ? इसीलिए उसकी तिलमिलाहट, उसके हृदय की जलन और कुढ़न बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई है ।

एक स्थल पर "मेरा शरीर पत्थर नहीं है।" एक अन्य स्थल पर यह बुड्ढा बनावटी प्रेम करता है या प्रेम का खिलवाड़ करता है। वह कहती है, कहती है क्योंकि वह सोचती है कि विवाह ने उसके शरीर पर दीनानाथ का अधिकार कायम कर दिया है। वृद्ध में प्रेम तो हो ही नहीं सकता, उसमें गर्म खून ही नहीं तो वह रस का प्रवाह, प्रेम की गर्मी कहाँ से लाये। इसका प्रतिफल भी शरीर ही हो सकता है, हृदय नहीं। वह मानती है शरीर पर आपका पूर्ण आधिपत्य है और कहती है, "कोई समय नियत करलो । मैं अपने शरोर को लेकर तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो जाया करूँगी जो इच्छा हो।··· ·" वृद्ध की तरुण-पत्नी इससे अधिक और क्या कर सकती है ? यह भी उसका सबसे बड़ा त्याग है ।

मिश्रजी वृद्ध पुरुष की तरुणपत्नी की मनोदशा पूर्ण रूप से किरणमयी में अंकित कर सके हैं। आप कितना भी उच्चादर्श रखिये। शरीर और शरीर के साथ उसका धर्म उसके साथ रहता ही है । शरीर को वह कहाँ रख आ सकती है। मस्तिष्क को वह वश में कर सकती है, संयमित कर सकती है किन्तु वह हृदय को कैसे वश में कर सकती है ? इसलिए किरणमयी का चरित्र आगे भी सर्वथा अनिंदनीय है। उसका प्रेमी मुरलीधर नाम धारण कर यहाँ भी आ जाता है। उनके मिलने पर पूर्व प्रेम सोया नहीं रह सकता। सत्य तो यही है।

सदाचार और आदर्श चाहे जितनी त्याग की डौंडी पीटें। यही होता है आगे जब मुरलीधर उसके घर पर आते हैं वह उनसे एकान्त में मिलती है, उसकी मरणासन्न अवस्था में जेलखाने में निसकोच पहुँचती है। वह अपने को रोक नहीं पाती। उसका प्रेम कलुषित नहीं हुआ। वह सर्वथा निर्दोष है। उसके चरित्र में असदाचार को प्रश्रय नहीं मिला।

किरणमयी का चरित्र वहाँ चरम कोटि पर पहुँच गया है जहाँ संपादक मुरलीधरजी से उसके प्रेम एवं अनुचित संबंध होने का सदेह उन्हें हो जाता है। इसमें प्रेम तो वह स्वीकार कर लेती है। और अनुचित संबंध के सदेह का वह निवारण करना चाहती है। प्रेम तो हृदय की वस्तु है वह हटाई नहीं जा सकती। इसीलिए वह इतनी स्वतंत्रता उनसे चाहती है कि उसे अपने प्रेमी मित्रों से मिलने दिया जाय जिस तरह वे अन्य महिलाओं और मेमों से मिलते फिरते है। उसका शरीर पवित्र है और उनके साथ वह शरीर के सबंध को ही स्वीकार करती है। मुरलीधर से कही हुई यह बात कि "हम लोगों का खून जलता है आप लोग समझते हैं रोशनी हो रही है। सचमुच पुरुष स्त्री के मन की बात जान नहीं सकते" न केवल दीनानाथ पर, पर सारे पुरुष समाज पर घटित होती है।

इसी प्रकार एक भारतीय विधवा का सुन्दरतम आदर्श और याथातथ्य चित्रण हमें 'मनोरमा' में मिलता है। मनोरमा बाल-विधवा है।

वैधव्य चित्रण

बाल-विधवा और वृद्ध की पत्नी सब को आकर्षण करने की वस्तुएँ होती है। प्रथम का कोई रक्षक नहीं है लावारिस धन है। दूसरी अराजक भूमि में निर्बल के हाथ बहुमूल्य संपत्ति। द्वितीय की अपेक्षा प्रथम का मार्ग दुरूह, अधिक भयावह तथा कठिनाइयों से घिरा हुआ होता है। द्वितीय यदि आदर्श से

च्युत हो जाय तो पति की ओट में सब कुछ कर सकती है। उसकी ढाल उसका संरक्षक, उसका वृद्ध पति मौजूद रहता है। किंतु बाल-विधवा के लिए केवल आत्म संयम के कोई अन्य मार्ग नहीं। मनुष्य ससर्ग करके, व्यभिचार करके, अछूता रह जाता है और नारी ससर्ग कर शरीर के धर्म के कारण, गर्भवती होकर, त्याज्य, अवहेलित और अपमानित होती है। भारतीय वातावरण में उसके लिये कोई स्थान नहीं। वह पुरुष की दया पर, ललचाई हुई आँखों और पाखंडी, दुराचारी, विशेषकर अंतर-दुराचारी पुरुष-पिशाचों के मध्य में बड़ी कठिनाई से अपने शरीर की रक्षा कर सकती है। उसकी गति साँप छछूँदर की सी हो जाती है। समाज उसे विवाह करने देता नहीं। विवाह की पवित्रता वह पति ढूँढ़ कर कायम रख नहीं सकती। समाज के वातावरण में, शरीर का धर्म, उसकी तरुणाई उसे अपने पथ पर जो स्वाभाविक, सच्चा, लौकिक है खींच लाना चाहती है। ऐसी अवस्था में वह अबला, नारी और फिर बाल-विधवा क्या करे? यदि वह आत्मघात कर लेती है तो वह निर्दोष है, निष्कलंक है, स्वर्ग की अधिकारिणी है। हमारा कानून उसे रोके नहीं जब तक वह उसके लिये उसके व्यक्ति के लिये, शरीर के लिये पूर्ण संरक्षण नहीं दे देता है।

मनोरमा का जब विवाह हुआ तब वह आठ वर्ष की थी। दस वर्ष की अवस्था में वह विधवा हुई, अब वह अठारह की है; चन्द्रकला के आग्रह पर डिप्टी-कलक्टर मुरारीलाल के यहाँ आ गई है। वे विधुर हैं इसलिये सरक्षण तो मनोरमा को देते हैं, किंतु उनकी वासनामयी दृष्टि भी विधवा होने के कारण उस पर पड़ जाती है। यही हाल मनोजशंकर का है। वह भी चन्द्रकला से विरक्त होता है, मनोरमा को चाहने लगता है। किंतु भारतीय बाल-विधवा मनोरमा सब से विरक्त, सब से

अलग। "जिस वस्तु का अनुभव हुआ ही नहीं ...... उसके अभाव का दुःख क्या ?" उसे। वह तो अपना आत्म-संतोष कला की आराधना द्वारा पूरा कर लेती है। उसमें कवित्व, कलात्मकता कूट-कूट कर भरी है। इसी के आधार पर उसने इतना समय निकाल दिया आगे कला का स्थान भगवत्-पूजा को वह देना चाहती है। चित्रकला की आराधना के संबंध में वह कहती है, "कला की साधना अपने विचार से नहीं होती। गुलाब खिल रहा था, वसन्त आ रहा था, आधी रात को पूर्णमासी का चन्द्रमा धरती की ओर देख रहा था- उसे देख कर मेरी कल्पना और भावना उत्तेजित हो उठी मैंने उसका चित्र बना दिया।"

पुरुषों के संबंध में वह सोचती है, "पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के संबंध में, मृत्यु-शैय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिये सब से बड़ी लोभ की चीज हो जाती है।" मनोरमा के इन शब्दों में मिश्रजी कितना व्यापक सत्य अंकित कर सके हैं।

"...... पुरुष के लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है स्त्री को। स्त्री-जीवन का सब से सुन्दर और कटु सत्य यही है। दुर्गा

मुनीश्वर की स्त्री- ('राक्षस का मन्दिर' में) ऐसी ही एक

दुर्गा परित्यक्ता दुःखिता नारी है। अपने क्रान्तिकारी विचारों के

कारण उसका तरुण पति उसे छोड़ जाता है। अन्य से प्रेम करने लगता है। उसका जरा भी ख्याल नहीं। यही तो पुरुष किया करता है। उसका जीवन गुप्तजी की इन दो प्रमुख पंक्तियों में गर्भित है। "अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध, और आँखों में पानी॥"

दूसरी श्रेणी के चरित्रों में 'मालती' (संन्यासी) का स्थान है। उसमें एवं विश्वकान्त में जो अन्तर्द्वन्द्व चलता है, जो प्रेम व्याघात

कतिपय अन्य पात्राएं

होता है, जो प्रेम की प्रतिक्रिया होती है, वह मानवोचित, मनोवैज्ञानिक एवं यथातथ्य है। (इसी प्रकार किरणमयी और मुरलीधर में भी आत्मिक द्वन्द्व चलता रहता है। दोनों प्रेम करते हैं। दोनों त्याग करते हैं। दोनो वासनाओं से बच कर, अन्तर्विद्रोह को दबा कर भी कलुषित नहीं हो पाते हैं यद्यपि एक-दूसरे से मिलने, बात-चीत करने में उन्हें तृप्ति का अनुभव होता है।)

चन्द्रकला—नारी-स्वभावजन्य भावुकता का चित्रण

चन्द्रकला भी आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य वातावरण में पली भारतीय कन्या है। चन्द्रकला में भावुकता की चरम सीमा है और वह मानवजीवन में, नारी में जो विषमताएँ हैं उन्हें समुचित रूप से व्यक्त करती है। उसका प्रेम प्रथम-दर्शन का है। मनोजशंकर उसे चाहता था। वह भी उसे चाहती रही थी किंतु वह उससे अपनी विरक्ति प्रकट करने लगी। रजनीकान्त की मधुर मुस्कराहट ने उस पर एक क्षण ही में अधिकार कर लिया। वह जानती थी रजनीकान्त विवाहित है। उसे एक छोटा पुत्र भी है। किंतु मानव-हृदय और फिर स्त्री के समक्ष 'ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं'। उसके साथ उसका विवाह होना असंभव-सा था ही किंतु प्रेम के लिये कोई बन्धन नहीं होते, वह कोई परिस्थितिएँ नहीं देखता। चन्द्रकला की भावुकता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह मरणासन्न रजनीकान्त के हाथ से अपने मस्तक पर सिंदूर लगवा लेती है। अपने को विवाहित समझ लेती है। रोमांचक प्रेम भावना-प्रधान ही होता है और सिंदूर की होली में अद्भुत अलौकिकता का प्राधान्य है किंतु वह यथार्थ चित्रण और जीवन से दूर हो गया है। इसमें मिश्रजी की भावुकता कल्पना-सीमा का व्यतिरेक कर गई है। यह उनकी अन्य रचनाओं से

विपरीत है। जहाँ 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' में वे प्रेमचन्द के समान घटना-प्रधान रहे हैं और अपनी पर्य्यवेक्षण शक्ति, मनोविकार, अन्तर्द्वन्द्व, आत्मिक-संघर्ष आदि के चित्रण का परिचय देते हैं। वहाँ इसमे विषय एव भाव-प्रधान रचना लेखक के रूप में आये हैं। उनकी भावुकता की इसमें चरम-सीमा है। नाटकीय दृष्टि से इसी नाटक से उनकी कलात्मकता का उतार प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार 'मनोरमा' के चित्रण का भी हाल है। उसका चरित्र भी विधवा-जीवन से सामंजस्य स्थापित नहीं करता। उसके विचार विधवा स्त्रियों के समष्टि रूप में नहीं माने जा सकते।

'अशरी' (रा० का० मं०) और 'आशादेवी'। (मुक्ति का रहस्य) के चित्रण में एकसा विकार, प्रायः एकसी चारित्रिक कमजोरी, एकसा भाव परिवर्तन और प्रायः एकसा अन्त और अन्तिम परिणाम पाया जाता है। दोनों का चित्रण कौमार्यावस्था से शुरू होता है। एक वेश्या-पुत्री थी, मुसलमान थी, जिसका चरित्र धीरे-धीरे संसर्ग से हिंदुत्वपूर्ण हो गया था और दूसरी एक शिक्षित नवयुवती थी जिसमें पाश्चात्य ढंग का प्रेम-परिणय था। जिसने अपने प्रेमी पर विजय प्राप्त करने के लिये, उससे विवाह करने के लिये उसकी पत्नी को मरवा डाला था। इसमें विष-प्रयोग, उसकी अभिसंधि उसका कपट, उसका अपने इष्ट के प्राप्त्यर्थ डॉक्टर त्रिभुवननाथ से संसर्ग और संयोग का लालच दिखा कर उद्देश्य सिद्धि करना भी पाश्चात्य ही है। अन्त में उसका भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह भी सत्य के समक्ष झुक जाती है। उसका, उसके अन्दर का देवता जाग्रत हो जाता है।

अशगरी, आशादेवी

इनके चरित्रों में भी लेखक ने भावुकता का एवं कतिपय अंशों में कल्पना का प्रयोग किया है। यह तो अवश्य है कि साहित्य में कल्पना

और यथार्थता का अधिक संमिश्रण हो जाता है। उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन हो जाता है। इसीलिये इनके चित्रण में कल्पना और पात्रों के स्वभाव मे जो भावुकता है वह यथार्थता के निकट है किंतु अलक्षित नहीं है, यत्र-तत्र प्रकट हो जाती है और चूंकि नाटक का क्षेत्र सीमित होता है, मिश्रजी उसमें कम से कम समय में उसका अभिनय किया जा सके इसी उद्देश्य से लिखते हैं इसलिये उनका चरित्र-चित्रण अधूरा रह जाता है और उसमें व्यापार की कमी और विचार प्रकट करनेवाली प्रणाली रँग आती है। प्रेक्षकों की दृष्टि से इस पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिये ताकि उनकी रुचि अभिनय की ओर बनी रहे और प्रदर्शन, अभिनय, बिना मस्तिष्क पर जोर दिये ही वे अन्त तक देखते जावें। इसके लिये व्यापारों का आधिक्य और विचार प्रकट करने की कमी अधिक लाभदायक है।

अश्गरी का रामलाल के घर में रहना असंगत मालूम पड़ता है। उसकी ओर से रामलाल का असावधान रहना भी कुछ जँचता नहीं, किन्तु उसका यौवनोचित चित्रण उचित और स्वाभाविक है। उसके यौवनागमन का प्रभाव जिससे वह अपनी अतृप्ति चाहे जिस अतिथि को भेंट दे देती है रामलाल की वृद्धावस्था और शराब-पान में अधिक व्यस्त रहने के कारण है। उसका रघुनाथ अथवा मुनीश्वर की ओर आकर्षित हो जाना, वेश्या, संस्कार वश नहीं प्रत्युत यौवनागमन का तकाजा है। बाद में जाकर उसमें जो महान् परिवर्तन हो जाता है वह स्वाभाविक और अन्त:प्रवृत्तियों से प्रेरित तो है किंतु उसमें यथोचित विकास का अभाव भी है।

यही बात आशादेवी के चित्रण के समय हो जाती है। वह उमाशंकर को चाहती रहती है। उनके प्रति प्रेम के कारण ही वह उनकी पत्नी की विघातिनी विष पान करानेवाली हो जाती है। इसी के कारण

वह अपना कौमार्यत्व कुप्रसिद्ध और दुश्चरित्र डॉक्टर त्रिभुवननाथ को सौंप देती है किन्तु शर्माजी से विवाह न कर उक्त डॉक्टर से ही विवाह कर लेती है। देखा जाय तो अशगरी से आशादेवी का चरित्र अधिक स्पष्ट, मनोवैज्ञानिक, व्यवस्थित और बाद में आर्य-संस्कृति मय हो उठा है। अश्गरी में इतना वैषम्य पाये जाने का कारण उसका मुसलिम होकर हिंदू सस्कृति में ढलना है। दोनो के चरित्रो में यह भी समानता है कि अशगरी रघुनाथ को चाहती हुई मुनीश्वर के सरक्षण में रहना पसद कर लेती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'आशा' डॉक्टर के साथ। इसका एक कारण मालूम पडता है वह यह कि स्वयं वेश्या होने के कारण इसको सहानुभूति स्वयं वेश्या-सुधार करनेवाली सस्था से स्वाभाविक रूप से हो सकती है। वह सब ओर से-ससार से-उपेक्षित हो चुकी थी।

अशगरी का चरित्र समाज को कटु मालूम होगा यद्यपि अब इस प्रकार का वातावरण साफ होता जा रहा है किंतु आशा देवी के चरित्र में सामाजिक दृष्टि से दोषों के होते हुए भी, विष-पान कराकर प्राण लेने के बावजूद भी स्त्रियोचित करुणा जाग्रत हो जाती है। उसके चरित्र में स्त्रियोचित कमजोरिएँ हैं पर उसका हृदय-देवता सदा जाग्रत रहा। एक बार पथ से गिर जाने का परिणाम उसे भुगतना अवश्य पड़ा किंतु अन्त में उसकी सद्वृत्तियों की देवता की ही विजय हुई।

ललिता धनी शिक्षित कुमारी थी जो भावुकता वश रघुनाथ को कवि रघुनाथ को प्रेम करने लगी। रघुनाथ के उसके प्रेम न पहिचानने और अशगरी से दुर्व्यवहार के कारण वह कुछ भुलाई भी रही किंतु अन्त में रघुनाथ के प्रति जो हमारी सहानुभूति उसके पिता की सपत्ति के अपहरण द्वारा हो जाती है और हमारे हृदय में एक खटक पैदा हो जाती है उसके निवारण के लिए या उसकी दु खांतता को सुखांतता में परिवर्तित करने के लिए धनी ललिता का चरित्र इसमें जोड़ा गया है।

कतिपय सफल चित्रण

'सिंदूर की होली' में डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल एवं धनी, कलुषित हृदय और दुष्ट-प्रकृति जमींदार भगवन्तसिंह का चरित्र विशेषरूप से दृष्टव्य और विचारणीय हैं। मिश्रजी को इनके चित्रण में कहीं अधिक सफलता मिली है । ये चरित्र वास्तविक जीवन के अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द के चरित्रों के समान देखे-सुने हैं। इसलिए इन चरित्रों के कारण ही मेरी दृष्टि में न कि चन्द्रकला के कारण क्योंकि उसका तो एक अत्यल्प भावुकता और भावनामय चित्रण है यह नाटक मिश्रजी की कृतियों में एक अच्छी कृति माना जाना चाहिए।

डिपुटी कलक्टर मुरारीलाल

डिप्टी कलक्टर मुरारीलाल का पतन सुन्दर कहा जा सकता है। उनकी जिस प्रवृत्ति का चित्रांकण हुआ है, जिस कमजोरी का निदर्शन हुआ है वे उनमें बीजांकुर रूप में पहिले से ही थे और उनका चित्रण कर उसके पिछले जीवन से वर्तमान चरित्र का सामंजस्य स्थापित कर चरित्र की एक रसता का प्रदर्शन लेखक ने अच्छा किया है। चरित्र की कमजोरी, लालची प्रवृत्ति ने ही उन्हें अपने घनिष्ठ मित्र मनोजशंकर के पिता को नदी में डुबाने के लिए प्रेरित किया। इनका यह चरित्र आगे और भी दृढ़ हो गया यहाँ तक कि उनका विवेक भी बदल गया। एक अपराध जो वे कर चुके थे उसका प्रायश्चित भी वे दूसरे अन्य पापों का ढेर लगा कर, रिश्वत लेकर, करना चाहते थे।

उनका विवेक मर तो नहीं गया था किन्तु मृतप्राय अवश्य हो गया था। इसीलिए वह बार-बार जाग्रत हो उठता था और उनकी प्रवृत्तिएँ और कमजोरिएँ उसे बलपूर्वक दबा दबा देती थीं। मनोजशंकर के पिता की हत्या कर वे अब मनोजशंकर को प्रसन्न करना, संतुष्ट रखना चाहते थे। उनका एक स्वार्थ भी था। वे उसे उनकी पुत्री चन्द्रकला के योग्य

वर समझते थे, उससे चन्द्रकला का विवाह करना चाहते थे और उसे आई सी एस देखना चाहते थे। वे एक गुलाम प्रवृत्ति के मनुष्य थे।

इसीलिए रजनीकान्त का सरल, विनम्र स्वभाव, उन्हें आकर्षित तो कर सका किन्तु रिश्वत लेने से नहीं रोक सका। उसकी हत्या उन्हें विचलित तो कर सकी, विक्षुब्ध भी बना सकी किन्तु परिणाम उसका यह निकला कि उनकी रिश्वत अब दस हजार से चालीस हजार पर पहुँच गई। उसकी हत्या का पुरस्कार उन्हें मिला पचास हजार रजत सिक्कों के रूप में।

उनकी आत्मा और विवेक के मृतप्राय होने का एक प्रमाण यह भी है कि रिश्वत लेते समय उनका तर्क, कर्तव्याकर्तव्य का विचार न कर यह सोचता है कि भगवन्तसिंह एक धनी जमींदार है। पुलिस का मुँह वह कम द्रव्य से ही बन्द कर सकता है। उसकी रियाया उसका विरोध करेगी नहीं। मुकदमा चलेगा तो उसके पर्याप्त सबूत मिलेंगे नहीं और वह बच जायगा। उसका रुपया भी कम खर्च होगा। इसीलिए उसमें जो रुपयों का जहर है वह मैं ही लेकर क्यों न उसे कमजोर बना दूँ। उन्होंने यह नहीं सोचा कि यह जहर उन्हें कैसे पचेगा? वह जहर उनकी आत्मा से ही, चन्द्रकला के वैधव्य स्वीकार करने से, फूट ही पड़ा।

चन्द्रकला की स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकृति एक भावना और भावुकता प्रधान अनहोनी घटना अवश्य है किन्तु इसी प्रकार से किसी न किसी रूप में मनुष्य को अपने जीवन में ही प्रायश्चित करना पड़ता है, फल भोगना पड़ता है। यह ध्रुव सत्य है। किसी न किसी प्रकार से पापी के हृदय पर आत्मा पर चोट पहुँचती है यद्यपि कभी कभी संसार उसे देख सकता है और कभी नहीं।

भगवंतसिंह के टाइप के जमींदारों की भारत में कमी नहीं है। जिस प्रकार की घटना का वर्णन हमें सिंदूर की होली में मिलता है

भगवतसिंह

वैसी प्राय नित्य ही हुआ करती हैं। इसी प्रकार के षडयंत्र, इसी प्रकार की रिश्वतखोरी, इसी प्रकार के जाल और मुकदमें बाजी, पारस्परिक झगड़े प्रतिदिन की बातें हैं। भगवतसिंह के सदृश धनी जमीदार यद्यपि अब कम हैं किंतु उसके सदृश कलुषित और दुष्ट हृदय जमींदारों की संख्या अवश्य काफी है। इसी प्रकार के वध भी प्रायः सुने जाते हैं। सबंधियों में मन-मुटाव होना और स्वत्वों के लिए विद्वेष का यहाँ तक बढ़ जाना कि एक दूसरे के प्राणों को लेने के लिये उद्यत हो जाना कठिन नहीं।

ये ही बातें भगवंतसिंह में पाई जाती हैं। ज्यादतियों के द्वारा ही उसने तीन लाख की सपत्ति अर्जित कर ली है। अपने भातृपुत्र का वध कर उसके हिस्से को भी वह हड़पना चाहता है। संपत्ति के लिये अपने प्रिय संबंधी के प्रति जरा भी उसमें दया नहीं। पैसे के बल पर ही उसने अपनी उद्देश्य-सिद्धि करली।

विश्वकांत उन तरुणों में से है जिनमें आग में कूदने, लोहों को चबाने, उच्चतम त्याग करने की आकाँक्षाएँ रहती हैं। जिनमें असहयोग आंदोलन ने जीवन, स्फूर्ति, मर मिटने की भावना पैदा की। उसी समय एशियाई सघ की स्थापना के विचार ने यहाँ के वातावरण में एक नन्हीं सी लहर पैदा कर दी थी। उनको दिग्दर्शन हमें विश्वकांत के चरित्र में मिलता है। उस समय एक बात और हुई थी। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे संपादक थे जो तरुणों से उनकी तरुणाई का श्रेष्ठतम का उपहार चाहते थे। वे हमारे तरुणों को भारत के स्वातन्त्र्य के लिये तैय्यार करना चाहते थे। वे चाहते थे ये तरुण, चीन, जापान, अफगानि-

असहयोग आंदोलन की उपज— विश्वकांत मुरलीधर और उमाशंकर

स्तान जावें और भारत की आजादी, एशिया के नव जागरण के लिये सतत प्रयत्नशील हों। इन महान् कार्यों के लिये महान त्यागों की भी अनिवार्य आवश्यकता को वे महसूस करते थे। उस समय उक्त आदर्श संपादक तथा इस प्रकार के अन्य जीवन और जाग्रति के प्रतिरूप संपादकगण तरुणों को प्यार करते थे किंतु उनके चरित्र के प्रति, आचरण के प्रति कठोर दृष्टि रखना भी उनके और देश के लिये आवश्यक समझते थे। इसलिये वे उनसे उनके तरुणोचित जो प्रेम, स्नेह यौन संबधी मनोविकार थे उन पर विजय प्राप्त करवाना चाहते थे। कभी-कभी जब श्रेष्ठतम त्यागशील युवक भी स्वभावतः अपने पथ से जरा खिसकता दिखाई देता तब इन लोगों को हार्दिक दु.ख होता था यद्यपि ये भी कई प्रकार के मनोविकारो से ग्रस्त थे किंतु ये चाहते थे कि जो गलतिएँ हम कर चुके हैं वैसी गलतिएँ भारत के तरुण भारत की आजादी के लिये न करें।

विश्वकान्त में हमें इन्हीं तरुणों का और मुरलीधर में ऐसे ही आदर्श सपादकों का प्रतिनिधित्व मिलता है। कॉलेज का युवक, लेखक विश्वकांत संपादक मुरलीधर के द्वारा इन्हीं लाइनों पर शिक्षण प्राप्त कर रहा है। उसमें स्वदेश के प्रति अटल अनुराग, उच्चतम त्याग की प्रबल आकांक्षा है। वह लेखक और कवि है फिर भी तरुण तो है ही। वह मालती को स्वभावत: चाहने लगता है किन्तु जब पिता को यह पता चलता है तो वे बिना कारण ही उससे नाराज हो जाते हैं और विश्वकान्त में इतना साहस नहीं होता कि वह उसकी आज्ञा के विरुद्ध मालती से प्रेम कर सके, विवाह कर सके। ठीक उसी प्रकार जिस तरह मालती अपने पिता से अपने मनोभाव व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाती है और पिता के आग्रह पर विश्वकान्त से कभी न बोलने का वचन दे देती है। यहीं से मालती और विश्वकान्त का अतर्द्वंद्व शुरु होता है।

मालती के पिता प्रयत्न करते हैं कि विश्वकान्त और मालती सवध सूत्रों में बँध जावें किन्तु विश्वकांत को पिता का डर और मुरलीधरजी से प्रतिज्ञा-बद्ध (अविवाहित रहने की) होने का ख्याल इस सूत्र में फँसने से रोकता है। इधर जब मालती के यहाँ वे मिलते हैं तब मालती का वह भाव अर्थात् विश्वकांत से न बोलने का वचन दृढ़ नहीं रहता। वह विश्वकात से आग्रह करती है कि वे विवाह सूत्र में बँध जावें। विश्वकांत पिघलता हुआ मालूम पड़ता है किंतु जब मालती को उसकी प्रतिज्ञा का हाल मालूम होता है तो वह उसे अपने महत्पद से हटने की सलाह नहीं देती। अपने देवता को वह महान् उद्देश्यों में बाधक बनाना नहीं चाहती। उसके हृदय में इसके लिए दुःख होता है किंतु वह उसे दबाती है। विश्वकांत इस अंतर्द्वंद्व मे ऊब कर, घबड़ा कर, इससे बचने के लिए देश से बाहर निकल जाता है। किंतु वहाँ भी मालती को नहीं भुला सकता और जब उसे मालती के विवाह होने का समाचार मिलता है तो एक बार फिर उसमें उसके हृदय का वासना-जन्य तरुणाई का तकाजा जाग्रत हो जाता है। शायद वह अपने को मालती से दूर रख कर दुःख उठाना सह लेता किंतु मालती को किसी अन्य से विवाहित देखना उसे असह्य हो उठता है। यह भावना प्रेमी-प्रेमिकाओं में साधारणतः और स्वभावतः पाई जाती है। विश्वकांत एक बार फिर अपने उद्देश्यो से गिरना चाहता है किंतु मालती उसे बचाती है। रमाशंकर से विवाह कर स्वय अफगानिस्तान पहुँचती है। जब विवाह हो जाता है तब विश्वकान्त निराश हो जाता है, सयासी हो जाता है।

विश्वकांत में तरुणाई के उक्त दोनों प्रकार के आन्तरिक संघर्षों का एवं एक देश-भक्त त्यागी आदर्श तरुण में जो आकांक्षाएँ और स्वभाव-जन्यविकार रहते हैं उनका चित्रण भी सफलता से किया गया है।

मुरलीधर में भी यही और इसी प्रकार का आन्तरिक संघर्ष किरणमयी के संबंध में चलता है किंतु उनका चरित्र चित्रण कुछ अधूरा अवश्य है। युवकोचित जो संघर्ष विश्वकांत में चला है संपादकजी में भी चलता रहा है किंतु अब वे दृढ़ हो गये है, सयमित हो सकते हैं, बच सकते हैं। वे किरणमयी को चाहते थे किंतु किरणमयी का विवाह एक वृद्ध के साथ हो जाता है। उनका पूर्व जीवन अस्पष्ट है। या तो वर्तमान घटनाएँ ही लेखक को उठाना चाहिए अथवा वह उन्हें उठाता है तो उन्हें स्पष्ट अंकित करना चाहिए।

किरणमयी से शायद वे मिलन अथवा दर्शन की लालसा से उसके पति के ही शहर में आ जाते है। सम्पादकी करते हैं। देश-भक्त हैं, त्यागी और कष्ट भोगी हैं। आदर्शों और देश-सेवा के लिए अपने जीवन को भी तुच्छ समझते हैं किंतु उनके हृदय में भी एक सरस भाव, उनके मस्तिष्क में भी एक मृदुल स्मृति है। उसे वे नहीं निकाल सकते इससे मिश्रजी यह एक सत्य चित्रित करना चाहते हैं कि संपादक एक व्यक्ति भी होता है। उसके भी हृदय और भावनाएँ, स्मृतिएँ और मानसिक विकार रहते हैं। रह सकते है। वह उस पर विजय प्राप्त करना चाहता है। करता है। करता रहता है। कतिपय मनोविकारों के होते हुए भी उसके गुण और त्याग अवहेलनीय नहीं हैं।

पं उमाशंकर शर्मा भी असहयोग आन्दोलन के समय जिन देश की विभूतियों ने महान् त्याग किये थे उनमें से एक हैं। असहयोग आन्दोलन के समय न केवल वकीलों व विद्यार्थियों ने ही कचहरी व स्कूल छोड़े थे किंतु अन्य सरकारी लोगों ने भी जिनमें आई सी एस. वाले और उक्त शर्माजी सदृश डिपुटी कलक्टर के पद पर आसीन होनेवालों ने भी। प उमाशंकर का चरित्र एक आदर्श, त्यागशील आदर्शों

और सिद्धान्तों पर दृढ़ता से चलनेवाले देश-भक्त के रूप में है जो अपने त्याग का ढिंढोरा नहीं पीटते, अपनी जमींदारी और पद को त्याग देते हैं। त्याग आदर्श के समक्ष धन-सम्पत्ति, मोह-ममता, सुख-दुःख सबको एक ओर रख देते हैं। जिनका सिद्धान्त "सादा जीवन और उच्च विचार" है। किसी प्रकार की बाधाएँ जिन्हें कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं करतीं। नारी-मोह जिन पर अपना आधिपत्य जमा नहीं पाता। जो संयमित और दृढ़ चरित्रवाले हैं। अपने सिद्धान्तों और आदर्शों, जन-सेवा के लिए अपनी बुराई होने का भी ख्याल नहीं करते हैं।

पं० उमाशंकर ने डिपुटी कलक्टरी देश के लिए छोड़ दी, जमींदारी छोड़ दी। चेयरमैन चुने जाने के लिए अनुचित तरीकों की तिलांजलि ही नहीं दी किंतु उसके प्रति और उनके लाभ के लिए जिन्होंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया उन्हें भी उन्होंने समुचित दण्ड दिया। जैसे टाउन स्कूल के हेडमास्टर जिन्होंने उनके चुनाव में अपना स्कूल सम्बन्धी कर्तव्य पालन नहीं किया था, पण्डितजी के द्वारा हटाये गये। संयम और चरित्र-दृढ़ता उनमें इस सीमा तक पहुँच गई थी कि आशा देवी जिससे वे प्रेम करते थे, जिससे विवाह करना चाहते थे उसका अंग स्पर्श भी कभी वासना या कुभाव से नहीं किया, उसके उन्हीं घर में, एकांत में रहते हुए भी। उनमें देवत्व है, मानवत्व है। जब वे त्रिभुवननाथ का आशा से अनुचित प्रेम का हाल सुनते हैं तब एकाएक उनका पिस्तौल लेकर चल दौड़ना मिश्रजी के पुरुषत्व के प्रदर्शन के लिए, मनुष्य में जो इस प्रकार की एक भावना रहती है उसके चित्रण के लिए अंकित किया गया है। किन्तु उसका विकास, या निदर्शन उचित नहीं बन पड़ा है, अस्वाभाविक हो गया है। मनोवैज्ञानिक तो है किन्तु उसके असली भाव को जैसे चाहिए वैसे रूप में नहीं रख सके हैं।

नवयुवक रजनीकांत (सिंदूर की होली) और बालक मनोहर (मुक्ति का रहस्य) का चरित्र बड़ा ही करुणापूर्ण हो गया है। पहिले की केवल एक झलक ही है। वही इतनी मार्मिक-

मार्मिक एवं करुणा पूर्ण चित्रण

हृदय-स्पर्शी है जो मिश्रजी में करुण-रस की उद्‌भावना भी इतनी तीव्र हो सकती है इसकी पूर्ण परिचायिका है। मनोहर की करुणा मातृ-वेदना तो जैसे 'मुक्ति के रहस्य' में से चू चू पड़ती है। बालक मनोहर में कहीं-कहीं बाल चित्रण आवश्यकता से अधिक जरूर हो गया है किंतु कहीं वह अस्वाभाविक नहीं हुआ है।

रजनीकांत का मुरारीलाल से "अगर मैं मर गया तो इसके उत्तरदायी हुजूर होंगे" कहना और इस कथन को सत्य में परिणत होना करुणापूर्ण और मार्मिक है। रजनीकांत की मुस्कराहट, उसकी संबधियों के प्रति समवेदना, सहायता, उसका अपने प्राण जाने का अलिप्त भाव से भय सब सुन्दर बन पड़ा है। अंत में प्राणांत के समय अपने घातकों के नाम नहीं बतलाना उसके हृदय की विशालता सूचित करता है। इस तरुण में न केवल शारीरिक सौंदर्य ही था किंतु आत्मिक भी, जिसके कारण ही, जिसकी भव्यता के कारण ही चंद्रकला उसकी ओर प्रथम दर्शन में ही आकर्षित हो गई थी। ऐसे युवकों अथवा संबधियों के वध जमींदारियों में पाये जाना दुष्कर नहीं है।

इसी प्रकार का करुणापूर्ण चित्र मातृ-वियोगी मनोहर का है। इस बालक के रग-रग में मातृ-वियोग की वेदना व्याप्त हो गई है। उमाशंकर का उसकी ओर कम ध्यान देना, जनोपयोगी कार्यों के लिये उसकी उपेक्षा करते रहना, उसके चचा का उसके प्रति दुराभाव उस बालक में टीस सी पैदा करते रहते हैं। इन्हीं उपेक्षाओं के कारण अपनी मा का ध्यान उससे कभी छूटता नहीं। मातृ-वियोगी, कोमल-

हृदय बालकों में प्रायः बड़ी समझ, बड़ी गंभीरता आ जाती है। मनोहर में भी इसी प्रकार की समझ और गंभीरता कूट कूटकर भरी हुई है। पिता का 'सच बोलने' और माता का 'किसी के सामने हाथ न खोलने' के आदर्श उसके हृदय-पटल पर सदा के लिये अंकित हो गये हैं। वास्तव में मनोहर का चित्रण मिश्रजी के बालचरित्र के सूक्ष्म अवलोकन का द्योतक है। मनोहर और आशादेवी के कथोपकथनों में भावों का प्रदर्शन बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है।

मनोजशंकर और रघुनाथ का चरित्र-चित्रण महत्वपूर्ण नहीं। दोनों उस श्रेणी में आते हैं जो क्रमशः मुरारीलाल और मुनीश्वर सदृश व्यक्तियों के लालच, कपट, पाखंड और चालाकियों के शिकार होते हैं। रघुनाथ उन धनी पिताओं के पुत्रों में से है जिनके पिता मुनीश्वर सदृश सुधारक धूर्त लोगों के पक्षों में आकर अपने पुत्रों का भी ख्याल नहीं करते। यहाँ तक कि एक पैसा भी अपने पुत्रों के लिये नहीं छोड़ जाते। प्रायः यह तो देखा गया है कि पिता किन्हीं कारणों वश पुत्र को कम संपत्ति देते हैं और अन्य धूर्तों के कारण कई अन्य कार्यों में लगा देते हैं किंतु पुत्र को, संपत्ति होते हुए भी, वंचित कर दें ऐसा नहीं देखा जाता। फिर रघुनाथ सदृश सदाचारी, शिक्षित, कवि या लेखक की चिंता उसके पिता के द्वारा जो काफी विद्वान, समझदार और उसका हित-चिंतक था न हो सकी इसके लिये कोई पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण नहीं दिखाई देता है। मानव-मनोविज्ञान में इस प्रकार के चरित्रों का मिश्रजी को अनुभव कम है और उन्होंने कल्पना से ही काम लिया है। रघुनाथ का चरित्र भी इन्हीं कारणों से ठीक नहीं बन पड़ा। शायद 'राक्षस का मंदिर' में उनका उद्देश्य केवल अशगरी के चित्रण एवं महत्त्व प्रदर्शन से है। इस नाटक में रामलाल, अशगरी और मुनीश्वर पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। वास्तव में रघुनाथ जैसे व्यक्ति का चरित्र जिसके साथ

धोखा किया गया, सर्वस्व हरण किया गया कुछ अधिक स्पष्ट और सुप्रबंधित होना चाहिये था।

काशीनाथ (मु० का० र०) भगवतसिंह की ही श्रेणी में आते हैं। उसी के समान हैं जहाँ तक धन और जमींदारी का, मानापमान का संबंध है। हाँ परिस्थितिएँ उनके लिये ऐसी पैदा नहीं हुई कि वे किसी का वध करवा सकें क्योंकि उमाशंकर तो काफी प्रभावशाली और प्रौढ़ व्यक्ति थे। उनसे भी जमींदारी उनकी भलमनसाहत से प्राप्त कर लेते हैं। किंतु इनका चरित्र भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि उनके मनोभावों से यह ज्ञात नहीं होता कि उमाशंकर से उन्होंने सारी सम्पत्ति की रजिस्टरी अपने नाम करवा ली। सदिच्छा से अथवा असदिच्छा से। उनकी बातों से यह पता पड़ता है या पाठक की यह धारणा बनती है कि वे यह कार्य उमाशंकर की और जमींदारी की भलाई से ही कर रहे हैं और धूर्त्तता करने का उनका कोई इरादा नहीं है किंतु मनोहर के प्रति उनका व्यवहार उनकी इस सब अच्छाई पर पानी फेर देता है और उनके चित्रण में अधूरापन ला देता है।

असद् पात्र

धनी वकील वेणीमाधव एक स्वार्थी-मित्र है जिसका संबंध केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये ही है। इसी प्रसंग में इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि ऐसे शिक्षित व्यक्ति भी स्वार्थों की दृष्टि से या कारण से कितने नीचे गिर सकते हैं। अपने विद्वान् मित्र को भी मत न देकर एक अशिक्षित धनी सेठ को अकारण अपना मत दे देते हैं।

मुनीश्वर सदृश धूर्त, आश्रम-पथी, चारित्र्य से गिरे हुए व्यक्तियों की संख्या इधर कतिपय वर्षों में काफी बढ़ गई है। इन लोगों में चारित्र्य-बल तो रहता नहीं। हाँ, सूक्ष्म रूप में स्वार्थों के साथ-साथ हिन्दू समाज और अबला स्त्रियों के प्रति कुछ सहानुभूति अवश्य रहती

है। प्रारंभ में उनकी यह सहानुभूति प्रायः सच्ची रहती है किंतु बाद में उसका दुरुपयोग बढ़ जाता है। वे इसके नाम पर आश्रमादि खोलकर अपने स्वार्थों, कभी-कभी वासनाओं की तृप्ति की पूर्ति भी किया करते हैं। इन आश्रम-पंथियों में मुनीश्वर के समान ही अधिकांश व्यक्ति विवाहित भी होते हैं। देश-भक्त और समाज सुधारक, हिंदू हितों का पक्षपाती होना तो उनके लिये आवश्यक ही होता है। इनमें एक प्रकार की वीरता और प्राण होम देने की आकाँक्षा भी रहती है। किंतु इनका उपयोग जहाँ और जैसा होना चाहिये वहाँ, वैसा नहीं होता। विवाहित होने के कारण, कभी-कभी सतानवान होने के कारण प्रायः जनता द्वारा ये विश्वास पात्र समझ लिये जाते हैं और साधारण लोग ही नहीं बड़े-बड़े धनवान, विद्वान, शिक्षित जिन्हें उनके कार्यों को देखने की, दुनिया को देखने की फुरसत नहीं मिलती उनके उच्च आदर्शों, बढ़ी-चढ़ी रिपोर्टों और अधिवेशनों के दिखावों के चक्कर में आ जाते हैं। भीतरी परिस्थितियों की तह तक नहीं पहुँचते। जहाँ ऐसे लोगों का सहयोग, सहायता इन्हें प्राप्त हुई कि फिर इनके पौ-बारह हैं। मुनीश्वर ऐसे ही आश्रम-पंथी चालाकों में से है। यद्यपि उसमें कुछ सद्भावना भी होगी किंतु उससे अधिक वासना और स्वार्थ था।

रामलाल और डॉ० विश्वनाथ के चरित्रों में जो बात मिश्रजी व्यक्त करना चाहते हैं उसे वे सफलता से कर सके हैं यद्यपि सामाजिक आचरण और विचारों की दृष्टि से इन्हें लोग अच्छा

अनव किंतु सफल चित्रण वाले पात्र — नहीं कहेंगे। ऐसे पात्रों की सृष्टि शरद्चंद्र के 'चरित्र हीन' में और जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र' में भी हुई है। इन पात्रों के द्वारा लेखक मनुष्य के अंदर सदसद प्रवृत्तियों, विवेक संबंधी आधुनिक भावना का चित्रण करना चाहता है।

रामलाल एक वृद्ध प्रसिद्ध धनी बैरिस्टर है जिसकी मासिक आय दस हजार है। वह शराबी भी है। इसका चरित्र कुछ-कुछ प्रेमचन्द के 'राय साहब' (गोदान) के समान हो गया है। रामलाल ने एक युवती वेश्या रखली है। उसे वे छुटपन में ही ले आये थे। अब वे स्पष्ट रूप से अपने घर में ही रखे हुए हैं। दो वर्ष बाद उस बालिका वेश्या में यौवन के अंकुर जाग्रत होने लगते है। उसकी तृप्ति उनसे नहीं हो पाती है। वे अपने को चरित्रवान नहीं समझते बल्कि एक गिरा हुआ पतित समझते हैं। उनका एक नवयुवक पुत्र (रघुनाथ) है जो कवि है, पढ़ा-लिखा है। इनका वासना-ग्रस्त-चित्त अब भी चंचल है। वे उक्त वेश्या को देखते रहना चाहते हैं। इसमें उन्हें मानसिक आनंद आता है। इन्द्रियों की तृप्ति का अनुभव होता है। वे उसे देखते हुए शराब पीना पसंद करते हैं। या तो पाश्चात्य वातावरण ने उन्हें ऐसा बना दिया है अथवा किसी मानसिक आघात के द्वारा उनके चरित्र में शराबी और वेश्यापन घुस आया है, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। यह उनकी चारित्रिक हीनता है किन्तु उसमें एक देवत्व भी है। कुछ सद्-प्रवृत्तिएँ भी उसमें सजग हैं। यद्यपि राक्षस-प्रवृत्तियों का इस समय उनमें प्राबल्य और प्राधान्य है, किंतु पहिली सद्वृत्ति तो उनकी यही है कि वे जानते हैं कि वे कैसे हैं, यद्यपि उस ओर से मुँह मोड़ने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि उनके दुराचरण का प्रभाव उनकी संतान पर न पड़े चाहे वे कितने ही गिर जावें, इसलिए जब असगरी युवती हुई, उसमें आचरण संभालने की क्षमता कम हुई तो वे अपने पुत्र रघुनाथ को अपने से अलग रखने का विचार करने लगे। उसे असगरी से अनुचित संबंध और बर्ताव के बहाने अलग कर दिया। यहाँ तक तो उनके चरित्र में कोई विरूपता नहीं आती किंतु उनका उक्त दोषारोपण कर रघुनाथ को बाहर निकालना अनुचित

मालूम होता है। उनका यह तरीका गलत मालूम होता है। उसकी भलाई चाहते हुए भी जानते-बूझते हुए भी पृथक करने का यह तरीका उनका न्याय-संगत नहीं। अत्यधिक शराब ने उनके दिमाग पर बुरा असर किया होगा किंतु रघुनाथ के विरुद्ध मुनीश्वर के झाँसे में आकर अनुभवी, समझदार बैरिस्टर का आश्रम के लिए समस्त संपत्ति दे डालना अनुचित और अस्वाभाविक हो उठा है। इस संबंध में उनकी दिमागी खराबी भी नहीं मालूम पड़ती जब हम यह विचार करते हैं कि संपत्ति को ही बुरा समझने की उनमें बुद्धि थी, उनमें इतनी आत्मश्रद्धा थी कि वे चाकू अपने हाथ में भोंकलें। स्वयं संपत्ति का उपभोग करें किन्तु संतान के लिए कुछ न छोड़ें या और कोई इन्तजाम न कर भाग्य भरोसे छोड़ दें, इसमें मिश्रजी के सूक्ष्मावलोकन की कमी नजर आती है। हमें उनका चरित्र सद्‌सद् वृत्तियों के एकीकरण से अच्छा मालूम पड़ता है क्योंकि मनुष्य में ये दोनों वृत्तिएँ पाई जाती हैं। कभी एक सबल होती है कभी दूसरी और इन्हीं का यथोचित चित्रण रामलाल के चरित्र में हुआ है। केवल अन्त में अन्यपात्रों के द्वारा जो उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वह ठीक अंकित नहीं हुआ। रामलाल का चरित्र, व्यक्तित्व तो मिश्रजी के दिमाग में था किंतु आश्रम को दान देनेवाली घटना में उनकी कल्पना का प्रयोग ही होता हुआ मालूम पड़ता है।

डॉ० त्रिभुवननाथ भी आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में रंगा हुआ भारतीय दृष्टि से चरित्र हीन व्यक्ति था जिसकी चरित्र-हीनता के लिए प्रसिद्धि थी। चरित्र-हीनता के साथ उसकी दृढ़ता, उसका खरापन, सदिच्छा भी उचित रूप से अंकित हो सकी है। इस डॉक्टर का चित्रण यथोचित हुआ है। आशादेवी को व्यभिचार की दृष्टि से उमाशंकर की पत्नी के मारने के लिए उसका अलिप्त भाव से जहर देना, फिर उससे बिना किसी अच्छे बुरे, सहज स्वभाव से अनुचित सम्बन्ध की आशा करना, आशा के जहर खा

लेने पर उसे बचाना, इस संबंध में इसकी और वेनीमाधव की बात-चीत निडरता से होना, उसकी प्रशंसा करवा ही लेते हैं। चरित्र-हीन होते हुए भी, उमाशंकर की प्रेमिका आशादेवी से अनुचित सम्बन्ध की आशा रखते हुए भी उसका उसके मित्र उमाशंकर की भलाई चाहना और मत के संबंध में वेनीमाधव को सच्ची खरी-खोटी सुनाना भी एक सीमा तक प्रशंसनीय है। ऐसा चरित्र मिश्रजी ने देखा है। उसकी तह तक पहुँचकर उसे टटोला है। इसी से यह उनके सफल-पात्रों में से है।

मिश्रजी की असफल रचना — 'राजयोग', 'आधीरात'

'राजयोग' में मिश्रजी सफल नहीं हुए। केवल चम्पा का चित्रण ही ऐसा है जिसमें वे आज के युग की भारतीय नारी समस्या पर एक कटु व्यंग्य, एक तीव्रता, मार्मिकता के साथ एक प्रकाश डाल पाये हैं। उनका उद्देश्य भी इस नाटक में केवल चम्पा का चरित्र-चित्रण करना ही मालूम पड़ता है यद्यपि नाटक के नाम एवं वस्तु को प्रस्तुत करने के ढंग से नरेन्द्र का चित्रण करना उन्हें अभीष्ट है। इसमें न केवल लम्बे संवाद हैं किंतु अस्वाभाविकता भी बहुलांश में आ गई है। भावों की तह तक पहुँचने की शक्ति का परिचय जो अन्य नाटकों में लेखक ने दिया है उसका बहुत कम भाग यहाँ दिखाई देता है। समस्या अथवा मानव जीवन की एक विषमता का चित्रण इसमें मिलता है। प्राय देखा जाता है कि भारत में मनुष्य का वैवाहिक संबंध बड़े ही विचित्र सिद्धान्तों पर अवलंबित हो गया है। प्रेम-विवाहों के लिये अब कोई स्थान नहीं रह गया है। परिणाम यह हुआ है कि वैवाहिक विषमता अत्यधिक बढ़ गई है। शिक्षित का संबंध अशिक्षित बालिका से, शिक्षित कन्या का पाणि-ग्रहण अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति से अथवा धनवान या जमींदार से हो जाता है।

गौरांग को श्यामपति अथवा पत्नी मिलती है और श्याम को ठीक इससे विपरीत। इसी प्रकार गुण, कर्म, स्वभावादि में भी विभिन्नता प्राप्त होती है और विषमता की सृष्टि होती है। हमारे यहाँ की गुण मिलाने-वाली ज्योतिष-प्रथा अब प्रायः लोप होती जा रही है। गुण, कर्म, स्वभाव की विभिन्नता के कारण ने, पुरुष का नारी पर एकाधिकार रखने की भावना एवं उसे तुच्छ और सन्देहास्पद समझने के भाव ने नारी पर काफी अन्याय किया है और अब तक किया जा रहा है। अब बड़ी अवस्था में तो विवाह होता है किंतु वह वर-वधू के अनुकूल नहीं। अब समय आ गया है कि उनकी सम्मति भी किन्हीं अंशों में मान्य समझी जावे और उनके स्वतंत्र विचार सुने जावें। उनकी उमंगो, दृष्टिकोणों का प्रभाव अनुभव प्राप्त माता-पिताओं के अनुभव का लाभ उठा कर ही आगे बढ़े। दाम्पत्य-जीवन सुखी हो।

'राजयोग' में इसी एक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। चम्पा एक सुशिक्षित ग्रेजुएट लड़की है। सहशिक्षा के कारण कॉलेज में उसका परि-चय और प्रेम दीवान रघुवंशसिंह के पुत्र नरेन्द्र से हो जाता है। किन्तु धनी जमींदार राजा शत्रुसूदन पैसे और प्रभाव के बल पर एक पत्नी के होते हुए भी चम्पा से विवाह कर लेते हैं। परिणाम अच्छा नहीं होता। उनमें कभी प्रेम नहीं होता। वे कभी सुखी नहीं होते और न हो सकते थे। इधर इसी कारण नरेन्द्र को भी वैराग्य हो जाता है। वह घर-बार छोड़ कर योगी बन जाता है। कुछ सिद्धियाँ मेस्मेरिजम-विद्या प्राप्त कर लेता है। इधर नरेन्द्र और चम्पा के प्रेम-संबंध के कारण शत्रुसूदन प्रसन्न नहीं थे, इसीलिये वे उसके पिता को वृद्धावस्था का बहाना ढूँढ़ कर दीवान-पद से पृथक् करना चाहते हैं। इसी समय नरेन्द्र कति-पय सिद्धियाँ प्राप्त कर लौटता है। अपना चमत्कार शत्रुसूदन को दिखा-कर उन्हें आकर्षित करता है और अन्त में चम्पा और शत्रुसूदन का

समझौता करवा देता है। समझौता इस आधार पर होता है कि वह एक भारतीय नारी है। हिंदू-लॉ से उनका विवाह हुआ है। वह टूट तो सकता नहीं। शत्रुसूदन के सिवाय उसके लिये अन्य आश्रय भारतीय वातावरण में उचित नहीं हो सकता सिवाय आत्म-घात के। शत्रुसूदन व्यभिचारी-कन्या होने के कारण उसे त्यागना चाहते हैं। उसमें जो नारीत्व है उसकी अवहेलना करना चाहते हैं। नरेन्द्र उन्हें इस भ्रम से हटा नारी के प्रति सहानुभूति रखने के लिये उन्हें समझाता है और यह भी समझाता है कि उसके प्रति उनमें पुरुष-जन्य ईर्ष्या है उसका अवअत कर देना चाहिये। दोनों चूँकि सांसारिक प्राणी हैं एक समझौता जो पहिले उनके हृदय और भावों के विरुद्ध था कर लेते हैं और भविष्य-जीवन संचालन करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

नाटक की इस कथा-वस्तु के साथ गजराज के जीवन की एक घटना भी संयोजित है जो अन्त में चम्पा और शत्रुसूदन के संघर्ष और मानसिक द्वन्द्व को चरम सीमा पर पहुँचा देती है। चम्पा गजराज के उसकी माता से अनुचित सबंध से पैदा हुई लड़की है। इसीलिये जो शत्रुसूदन उसका पति उसे पहिले प्यार करते रहे और उसके प्यार की आकांक्षा करते रहे वही अब इस घटना को नरेन्द्र द्वारा गजराज पर योगक्रिया से प्रकट करवाने पर क्षुब्ध हो उठते हैं, किंतु इस विषय में भी नरेन्द्र एक प्रकार से चम्पा को निर्दोष कह कर समझौता करवा देता है।

नरेन्द्र की योगक्रिया मेस्मेरेजम ही-सी प्रतीत होती है। इससे स्वाभाविकता की रक्षा तो हुई है इसमें संदेह नहीं किंतु लोक-जीवन पर वह कुछ विशेष प्रभाव नहीं डालती। इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण पर कोई असर नहीं पड़ता यद्यपि इस पर तूल अधिक दिया गया है और नामकरण भी इसी के आधार पर किया गया है। नरेन्द्र के चरित्र-चित्रण पर भी इसमे कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

गजराज का अनुताप अस्वाभाविक और असफल है। मनोवैज्ञानिक नहीं। इसमें संदेह नहीं इस प्रकार का अनुताप-पश्चाताप मानव-मस्तिष्क में जाग्रत रहता है। उसे अपने किये पर खेद होता है। उसका हृदय किये हुए पाप के कारण कचोटता रहता है। उसकी आत्मा जोकि निर्मल और हलकी रहती है, पाप का जरा भी भार सँभालना नहीं चाहती; उसे फेंकना, बाहर निकालना चाहती है। हमेशा उसके मस्तिष्क में, मानविक प्रवृत्तियों और उनके दबाने की चेष्टा में द्वन्द्व चला करते हैं और जब तक आत्मा पुनः हलकी, निष्कलंक नहीं हो जाती वह पश्चात्ताप, पाप का भार उसे दबाया ही करता है, दुःखी बनाये रखता है। किंतु यहाँ गजराज का अनुताप एक प्रकार की पहेली बुझौअल-सा है। बड़े ही भोंडे रूप में उसका प्रदर्शन हुआ है। जिस प्रदर्शन के लिये उन्होंने राजयोग की रचना की उसे भी विफल बनानेवाला है। यह प्रकट करता है कि अभी लेखक का इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर अधिकार नहीं, गति नहीं। केवल इसमें एक बात तथ्यपूर्ण है। वह है चंपा के रूप में नारी की विवशता और मूक व्यथा का चित्रण।

नारी क्या है? पुरुष के हाथ की कठपुतली। उसकी विलासभावना का उपकरण। वह मूक नारी सदा हृदय में आग और मुख में मुसकान लिए फिरती है। पुरुष को वश में करना चाहती, उसका प्रेम प्राप्त करना चाहती, फिर भी उसके द्वारा तिरस्कृत, उससे अपरिचित। इसमें इसी भावना का सफलासफल चित्रण है।

'आधीरात' मिश्रजी की दूसरी असफल रचना है जिसमें वे अपने उद्देश्यों से गिरे हुए ज्ञात होते हैं। होना तो यह चाहिए कि लेखक की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जावे किंतु वृद्धि के स्थान पर इसमें गंभीरता और दार्शनिकता एक कवि के समान बढ़ गई है जिससे कथोपकथन में कवित्व और कवित्वोचित गांभीर्य तो है किन्तु नाटकीयता

का ह्रास हुआ है। नाटकीय रचनाओं में प्रेक्षक का भी एक प्रमुख स्थान होता है। इसीलिए अभिनय ऐसा होना चाहिए कि उसमें क्रिया कलाप भी हो, हाव-भाव भी हों घटनाएँ भी हों, केवल कोरा कथोपकथन ही न हो और वह भी लंबा, अरुचिकर और विरक्ति पैदा करनेवाला। 'आधीरात' में बहुत कुछ ऐसी ही बातें हैं।

इस पर विचार करते समय हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि कला फोटोग्राफी नहीं है जो सब गुण दोष सहित अंकित कर देती है। कला का काम तो जीवन में अस्पष्ट को स्पष्ट, अलक्षित को दृश्य, परोक्ष को प्रत्यक्ष, आंतरिक को वाह्य, मानसिक और हार्दिक को व्यक्त कर सुचिंतित, सुव्यवस्थित और सुपरिपक्व रूप में रखना है। केवल जैसा का तैसा उगलना नहीं। साथ हीं यह तो ध्यान रखना ही होगा कि लेखक उपदेशक न हो। जबर्दस्ती अपने जैसे भी विचार हों उन्हें पाठक या प्रेक्षक पर न लादे। इस रचना में ऐसे ही विचारों को प्रेक्षक पर लादने की चेष्टा की गई है और यदि इसका अभिनय हो तो लंबे, कवित्व-पूर्ण विचार-धारा युक्त कथोपकथन अरुचिकर प्रतीत होंगे।

लेखक प्रेतात्माओं में विश्वास रख सकता है। उसके विश्वास और धारणाओं का प्रभाव उसकी रचनाओं में भी आ सकता है, किंतु वह परोक्ष ही श्रेयस्कर है। उन्हें वह प्रेक्षकों पर लादे नहीं। समस्याएँ हों तो समस्याओं के प्रदर्शन के मार्ग भी एक तटस्थ व्यक्ति, लेखक या कलाकार की ओर से आ सकते हैं किंतु पुस्तकों की कुंजियों के समान हर एक वस्तु हल की हुई को रचनाओं में स्थान देना स्थायित्व की कमी पैदा करना है। चरित्र-चित्रण इसमें अधूरा है। होना चाहिये पूरा। प्रेक्षक के विचार करने के लिये वस्तु रखी जा सकती है किंतु उसके विचार करने के लिये निश्चित आधार भी होना चाहिये। इनके अभावों में चरित्र-चित्रण अधूरा रहता है और यही उनकी इस कृति में हुआ है।

इस में भी 'राजयोग' के समान जीवन, संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति नहीं है। यह पात्रों की कमी के कारण हुआ है। पात्रों की कमी तो एक गुण है। किंतु इससे घटनाओं और चित्रण में अधूरापन नहीं आना चाहिये। वही एक विशिष्ट समुदाय के पात्रों का चित्रण है, वही समस्या है जो भारत के शिक्षित समुदाय में सोची जाती है। दस पच्चीस वर्षों में ही आनेवाली है। किंतु हमें ध्यान रखना चाहिये कि उसके प्रति प्रतिक्रिया भी होने लगी है, जो कि स्वाभाविक है। यह एक प्रसन्नता की बात है कि 'आधीरात' में उस प्रतिक्रिया का भी दिग्दर्शन है।

मिश्रजी ने जो कथावस्तुएं चुनीं हैं उनका आधार पाश्चात्य है यद्यपि उन्होंने उन्हें भारतीय रंग देने की चेष्टा की है। यह मैं इसलिये कहता हूँ कि जो बातें व्यापक रूप से और कई अंशों में तो अल्प रूप में भी अभी भारतीय समाज में, वातावरण में नहीं आई हैं उन्हें भारतीय आवरण पहिनाकर लेखक ने हमारे सामने रखा है। उसने पाश्चात्य साहित्य का और उसके द्वारा जीवन का जो अध्ययन किया है उसे भारतीय बनाकर हमारे सामने रखा है। इसमें संदेह नहीं पश्चिम के ससर्ग से ये समस्याएँ भी हमारे जीवन को विलोड़ित करेंगी किंतु उनकी अनुभूति लेखक को होना चाहिये। केवल उस प्रभाव का भारतीय करण नहीं। मिश्रजी की रचनाओं में यही मिलता है। यह दोष है। इसमें संदेह नहीं भाषा और भावों को व्यक्त करने की दृष्टि से इस रचना में काफी परिमार्जन, व्यवस्था दिखाई देती है, किन्तु अस्पष्टता, गभीरता भी है।

एक स्थल पर प्रकाशचंद्र, मायावती एवं राघवचरण बोल रहे हैं। उनके साथ ही राघवचरण वृक्ष से जिसमें उसके मित्र की प्रेतात्मा निवास करती है उससे बोल रहा है। यह दृश्य सिनेमा के उपयुक्त वो

हो सकता है और किसी फिल्म में मैंने देखा है किंतु मंच पर दिखाना अस्वाभाविक और अरुचिकर होगा।

इसी प्रकार जो नाटकीय संकेत लेखक ने दिये हैं वे भी सिनेमा के अधिक उपयुक्त हैं। सेठ गोविंददास जी में भी यही बात है। हिंदी के ये नाटक लेखक लिखते तो सिनेमा की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर हैं किन्तु उन्हें जनता नाटक समझ कर पढे और उनके अभिनय भी किये जा सकें—जिनकी संभावना आज कम ही दिखाई देती है इस बात को नहीं भूलते। लिखते सिनेमाओं के लिये हैं और नाटक लेखकों में अपना नाम सुरक्षित रखना चाहते हैं। सिनेमा-नाटक और नाटकों में भाई-भाई का सा संबंध है। उनकी कलाएँ भगिनियों के सबंध से संयोजित हैं किंतु वे दोनों एक नहीं हैं। उनकी पृथक-पृथक सत्ता और क्षेत्र हैं।

भारतोदय और राष्ट्रीय युग के पश्चात्, साहित्य के क्षेत्र में, प्रेमचंद्र के बाद आज के युग को यदि मैं 'नारीयुग' के नाम से पुकारूँ तो कुछ अनुचित नहीं होगा, क्योंकि हमारे विचारकों, लेखकों और कलाकारों में नारी के प्रति एक प्रचुर मात्रा में व्यापक रूप से कोमल-भावना आ गई है। इनमें अधिकतर तो राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों के महत्व के कारण, उनके सच्चे और निर्मल रूप को समझने के कारण है। कुछ अंशों में विलासिता एवं पाश्चात्य नारी आंदोलन को भी इसका श्रेय है। नारी की विवशता और व्यथा का चित्रण युग के अनुरूप इस नाटक-लेखक ने भी बड़ी ही तीव्रता से किया है। न केवल 'सन्यासी' 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली' राजयोग में यही मिलता है किंतु 'आधीरात' में भीनारी की व्यथाएँ और विवशताओं का ही चित्रण है। पुरुष पात्र तो केवल जहाँ-जहाँ नारी चित्रण के लिये पूर्तियों की जरूरत है वहाँ-वहाँ अपना रूप प्रकट करते हैं। नारी केंद्र है।

पुरुष-पात्र उसकी धुरी के चारों ओर उसी केंद्र के महत्व, साधना, व्यक्ती-करण को प्रकट करने के लिये घूमते रहते हैं।

'आधीरात' में मायावती के लिये ही प्रकाशचंद्र, राघवचरण और राधाचरण की सृष्टि हुई है। मायावती के अतिरिक्त इनका स्वतंत्र न कोई महत्व है, न उपयोगिता।

माया एक शिक्षित, विलायत में पढ़ी लिखी महिला है। उससे दो व्यक्ति-वैरिस्टर प्रेम करने लगते हैं। बहुधा स्त्रियों के संबध में यही तो होता है। स्त्रियें भी एक साथ दो पुरुषों को प्रेम कर सकती हैं। किंतु यह भावना कम ही देखने में आई है क्योंकि नारी अव्यक्त बहुत रहती है। पाश्चात्य सभ्यता में रंगे हुए उन दोनो प्रेमियों में से एक दूसरे को पिस्तौल का निशाना बनाता है। पहिले को काले पानी का दंड होता है किंतु सम्राट अभिषेकोत्सव के समय छूटकर पाँच वर्षों के बाद लौटता है। उधर दूसरा मर कर प्रेत होता है। माया जो नारी है वह निर्बल और निराधार है। उसे आश्रय और संरक्षण की जरूरत है, क्योंकि चाहे वह कितनी भी आत्मजीवी क्यों न हो, उसमें 'नारीत्व' तो रहता ही है। निर्बलता तो रहती ही है। वह प्रकाशचंद्र को अपना साथी बना लेती है। वह शिक्षित नारी वासना के लिये नहीं, सेवा के लिये। प्रकाशचंद्र उसे ग्रहण कर लेता है क्योंकि वह ऐसी ही नारी शिक्षित स्त्री चाहता था जो उसके साथ घूम फिर सके। वह कवि था, उसकी कल्पना के समान वह नारी को चाहता था। माया में ये सब गुण थे। इसलिये विवाहित होते हुए भी वह अपनी अपढ़ गँवार स्त्री को छोड़कर माया के प्रेम-पाश में बँध जाना अपने लिये अहितकर नहीं समझता। वह अखबारी कीर्ति चाहता था माया के द्वारा उसे वह प्राप्त हो जाती है। वह भूला हुआ है।

राघवचरण एक तीसरा व्यक्ति है जो माया के प्रति आकर्षित हो जाता है, प्रकाशचन्द्र का मित्र बन जाता है। वह संसारी और सामाजिक प्राणी है। वह चाहता है प्रकाशचन्द्र माया की ओर से विरक्त हो जाय और यह नारी-निधि उसके संयोग की वस्तु बन जाय। वह छिपा उत्तम मित्रता की ओट में प्रकाश को विरक्त करने की चेष्टा में दार्शनिकता और सांसारिकता के उपदेश देकर संलग्न होता है।

इसी समय राधाचरण काले पानी से आ जाता है। उसने माया से विवाह किया था आज भी वह उसके मकान में उसकी संपत्ति का उपभोग कर रही है किंतु अब उसे सामाजिक जीवन की चाह नहीं। प्रकाशचंद्र के प्रति उसे न ईर्ष्या है न क्रोध। मकान तथा संपत्ति भी उसने आते ही माया के पास रहने दी। केवल एक पुस्तक के आधार पर प्रेतात्माओं से संभाषण करने की क्रिया सीख कर अपने मित्र जिसकी उसने हत्या की थी उससे संभाषण करने और उसे संतोष देने लगा।

इस नाटक में माया के द्वारा लेखक एक आदर्श उपस्थित करता है। माया में जो एक आँग्ल शिक्षित महिला है और जो पाश्चात्य सभ्यता में रंग गई थी, निम्न कतिपय घटनाओं की सृष्टि कारण के विरक्ति पैदा हो जाती है। वह देखती है, उसके हृदय में पश्चाताप होता है कि उसके कारण ही उसके दो प्रेमियों का सर्वनाश हुआ यद्यपि उसने क्रियमान होकर ही जीवन की इन विषमताओं में भाग लिया था। इनका कारण वह अपने को ही समझती है। पश्चाताप की दशा में यही होता है। यह आँग्ल शिक्षित नारी अब भारतीयता को उसके समस्त दोषों के साथ अपनाती है। उसमें उसे सुख और संतोष प्राप्त होता है। वह अपना प्रयोग प्रकाशचंद्र पर जो अपरिचित और स्वप्न-प्रेरित ही उसके पास खिंच आया था करती है। उसे प्रयोग करना पड़ा क्योंकि वह नारी थी, निर्बल थी, अशिक्षित थी। ऐसी नारी के

लिये पुरुष वर्ग, राक्षस के समान मुँह बाये खड़ा रहता है। विवाहित स्त्री के प्रति जरा वह सोच समझ कर दृष्टि डालता है किंतु निराश्रित, विधवा, अशिक्षित नारी को तो पुरुष अपनी धरोहर ही समझता है। उसका रस चूस कर, उसे पथभ्रष्ट कर, उसका सर्वस्व हरण कर उसे मक्खी के समान दूध से बाहर निकाल कर फेंक देता है। केवल इसी अरक्षित अवस्था से त्राण पाने के लिये राधवशरण भी ऐसे ही शायद पुरुष-पिशाचों में से था जो उस पर दाँत गड़ाये था, जो बिना विवाह किये ही शायद उसे हड़पना चाहता था उसने प्रकाशचंद्र से पुनर्विवाह किया। पुनर्विवाह किया क्योंकि वह अपनी रक्षा चाहती थी। प्रकाशचंद्र होता या कोई और पुरुष, उसे एक पुरुष की आवश्यकता थी। आवश्यकता थी अब विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये नहीं, इससे तो वह पहिले ही ऊब गई थी। अब तो उसका उद्देश्य केवल आत्म रक्षा और सेवा था। उसके विश्वासो में भी अब अन्तर पड़ गया था। विलासिता और पाश्चात्य वातावरण में पली यह नारी अब पुनर्जन्म में, व्रत-विधानो में, उपवासों में, प्रेतों में विश्वास करने लगी थी। पाश्चात्य एक ही जन्म-वाले सिद्धान्त से उसे घृणा हो गई थी। अब उसे जो कुछ भारतीय था उससे प्रेम हो गया था। उसे श्रद्धा हो गई थी। इसीलिये जब प्रकाश सावधान हो गया। उसके पिछले जीवन की घटनाएँ उसे विदित हो गईं तो उसे वह त्यागने लगा। इस अवस्था में उसने एक भारतीय विधवा के समान सुख से अपने को अर्पण करना अच्छा समझा।

नाटक के प्रथम भाग में कला संबंधी विवाद, मध्य में प्रेतात्मा संबधी विश्वास की पुष्टि और अन्त में माया की आत्म दृढ़ता, निष्कलुषता और आत्म-विसर्जन की भावना है।

इस नाटक में लेखक ने इतिवृत्त कहने की अरोचक प्रणाली को भी ग्रहण किया है। यह पात्रों की कमी के कारण ही हुआ है। घटनाओं

और व्यापार की बेहद कमी है। चरित्र चित्रण अधूरा और अस्पष्ट है। स्व-विचार-सिद्धांत-भार प्रेक्षक पर अनावश्यक लादा गया है।

एक समय जितने समय की घटना होती उसे उतने समय में ही दिखाने की चेष्टा करके स्वाभाविकता की सृष्टि समझी जाती थी। यही प्रणाली आजकल पाश्चात्य साहित्य में भी यत्र-तत्र दिखाई देती है। यही प्रणाली 'आधी रात' में मिश्रजी ने ग्रहण की है। किंतु यह प्रणाली कहाँ तक और किस प्रकार ग्रहण की जाय यह बात विचारणीय है। इसमें एक बड़ा दोष तो यह आ जाता है कि घटनाओं और व्यापारों का स्थान, तर्क, विवाद, सिद्धांतपुष्टि संबंधी कथोपकथन ले लेता है। इतिवृत्तात्मक प्रणाली रेंग आती है और कोरे लंबे कथोपकथन अरुचिकर हो जाते हैं। 'आधी रात' में यही हुआ है।

सेठ गोविन्ददास

आधुनिक नाटक-लेखकों में नाटक के वाह्य उपकरणों का जिन्होंने सतर्कता एवं अनुभव सहित ध्यान दिया है उनमें सेठ गोविंददास का एक प्रमुख और विशेष स्थान होना चाहिए। उनके कथन द्वारा उनकी रचनाएँ कुछ ही दिनों में लिखी हुई कृतिएँ हैं जो पाश्चात्य एव भारतीय नाट्य-साहित्य के अध्ययन का परिणाम हैं। किन्तु इन पंक्तियों का लेखक उनके इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं है, क्योंकि सेठजी ने नाटकीय वाह्य उपकरण तो पाश्चात्य लिए हैं किंतु पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के आन्तरिक स्रोतों, युग की मूल भावनाओं, उनका व्यक्तीकरण, जीवन के प्रति, समाज के प्रति व्यंग्य, सजगता एवं जीवन की निकटता से संपर्क, हार्दिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक संघर्ष, अंतर्द्वन्द्व आदि के व्यक्त करने में जैसी सफलता उन्हें मिलना चाहिए वैसी नहीं मिली है। शास्त्रीय या आलोचनात्मक ग्रंथों के अध्ययन की अपेक्षा तद्विषयक नाट्य-साहित्य का अध्ययन उस विषय के कलाकार अथवा लेखक के लिए अधिक आवश्यक है। कदाचित इसीलिए नाट्य-शास्त्रीय टेकनिक का ध्यान रख कर भी वे अपनी रचनाओं में सफलता से अपने को व्यक्त नहीं कर सके हैं।

सेठजी के नाट्य-उपकरण

सेठजी की रचनाएँ हमारे समक्ष एक गंभीर समस्या भी विचारार्थ उपस्थित करती हैं। वह यह कि चित्रपट और नाटक एक ही वस्तु हैं अथवा भिन्न-भिन्न। ये दोनों कलाएँ जो सगी बहिनें हैं अथवा जुड़वाँ बहिनें हैं वास्तव में एक नहीं हैं और चूँकि इनमें साम्य अत्यधिक एवं

सिनेमा एव अभिनय कलाओं में अन्तर

मिलता कम है इनका अन्तर अवश्य एक कलाकार को ध्यान में रखना होगा।

दोनों कलाओं में चरित्र-चित्रण और हाव-भाव की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। दोनों अवास्तविक को वास्तविक दिखाने की चेष्टा करती हैं। नट अथवा पात्रों का प्रयोग दोनों में होता है। किन्तु क्षेत्र एवं साधनों की दृष्टि से दोनों में महान अन्तर दिखाई देता है। नाटक का क्षेत्र संकुचित और साधन कम रहते हैं जहाँ चित्रपट के लिए क्षेत्र विस्तृत और कला प्रदर्शन के साधन अनेक रहते हैं यद्यपि इनमें भी कई दृश्य दुस्साध्य अथवा कठिन होते हैं। चित्रपट पर चूँकि उसका क्षेत्र विस्तृत रहता है सब प्रकार के दृश्य जो संभव हो तथा कतिपय मानव की सत्यसृष्टि में जो असंभव हो दिखाये जा सकते हैं किन्तु स्टेज पर कतिपय विशिष्ट दृश्य दिखाना ही संभव हो सकता है और वे भी केवल पर्दों अथवा संकुचित क्षेत्र में अन्य उपकरणों के प्रबन्ध द्वारा। इसीलिए अभिनय कला की सफलता के लिए प्राचीन समय से अब तक बंधनों और सीमाओं की सृष्टि हुई और इस कला पर कई प्रकार के अंकुश लगाये गये ताकि जो नहीं है, वह है ऐसा दिखाई दे सके। चित्रपट में भी कई प्रकार की कठिनाइएँ हैं और विभिन्न प्रकार की कला-कुशलताओं की अनिवार्य आवश्यकता होती है किन्तु क्षेत्र विस्तृत होने से इस कला के द्वारा दिखाना जो अभीष्ट होता है वह दिखाया जा सकता है किन्तु रंग-मच पर कितनी भी कुशलता के द्वारा कई प्रसंग कई दृश्य ऐसे रह ही जाते हैं जो दिखाये नहीं जा सकते। फिर उन दृश्यों के प्रबंध के लिए चित्रपट में समय भी असीमित रहता है। स्वतत्रता से समयानुसार, फोटोग्राफी आदि की कला की सहायता द्वारा समय के व्यवधान से भी कई दृश्य और प्रकरण दिखाये जा सकते हैं किन्तु रंग-मंच पर इनका दिखाना दुस्साध्य, प्राय: असंभव रहता है। चित्रपट में सामग्री,

समय और सुविधानुसार जमा कर मिला ली जा सकती है किन्तु रंग-मंच पर चूँकि समय कम रहता है यदि वही सामग्री दृश्यों के प्रदर्शन के लिए जमाई जावे तो समय अधिक लगे अथवा कथोपकथन या दृश्यों को अत्यधिक बढ़ाना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से दोनों कलाओं की कथा-वस्तु के उद्गम एक ही स्थान से होने पर भी एक थोड़ी ही दूरी से वे भिन्न-भिन्न होती चली जाती हैं, सिंधु और ब्रह्मपुत्र के समान। एक अरब सागर में गिरती है तो दूसरी बंगोपसागर में। अन्तिम लक्ष्य भी दोनों का एक ही रहता है। प्रारम्भ तथा अन्त एक तथा मध्य भिन्न रहता है यद्यपि कहीं-कहीं ये कलाएँ एक दूसरी से मिलती हुई नजर आती हैं।

जब इन दृष्टियों से हम 'तीन नाटकों' पर विचार करते हैं तब हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सेठजी की रचनाओं में नाटकीय तत्वों की अपेक्षा

'तीन-नाटक'-कतिपय दोष

सिनेमा के तत्वों का अधिक प्रयोग हुआ है एवं सिनेमा की परिस्थितियों, क्षेत्रों एव समय का ध्यान रखकर एवं इसी आदर्श एवं इनके ही अवलोकन पर 'तीन नाटकों' की सृष्टि की गई है। दृश्यों का संघटन, कथावस्तु का प्रवाह, प्रारंभ और अंत प्रायः सिनेमा की ही आवश्य-कताओं के अधिक उपयुक्त हैं। इसी प्रकार से नाटकों के पात्रों, रंगमंच एवं ड्रेस तथा अन्य उपकरणों के लिये जो संकेत हैं उनमें भी सिनेमा का ही दृष्टिकोण प्रतीत होता है। उनका 'कर्तव्य' या तो 'सीता' चित्रपट की छाया है अथवा 'सीता' चित्रपट 'कर्तव्य' के आधार पर लिया गया सा प्रतीत होता है। दोनों की कथावस्तुएँ, पात्र, भूक-पादि के दृश्य, रास्ते में यात्रियों के वार्त्तालाप प्रायः समान हैं। इसी प्रकार से "प्रकाश" का प्रथम दृश्य भी एक चित्रपट के आधार पर अथवा वह चित्रपट 'प्रकाश' के आधार पर तैयार किया गया

है। इसी प्रकार अन्य कई दृश्यों में एवं उनके प्रबंधो में सिनेमा-कला अधिक दृष्टिगोचर होती है। अतः हमें ध्यान रखना ही होगा कि इन दोनो कलाओं में विशेष कर कथावस्तु के मूल एवं चरित्र-चित्रण में साम्य होने हुए भी ये दोनों एक नहीं, पृथक-पृथक है। दोनो की आवश्यकताएँ किन्हीं अंशो में एक और किन्हीं में भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा ज्ञात होता है दोनों स्थानो पर प्रयुक्त किये जा सकें इसलिये सेठजी ने इन नाटको का यह रूप दिया है। इन दृष्टियो से उनका 'हर्ष' इन तीन नाटकों में सर्व श्रेष्ठ है। उसमे 'प्रसाद' का अनुकरण है किंतु दुरुहता नहीं। प्रसाद द्वारा निर्मित एव प्रयुक्त शब्द-प्रयोग है किन्तु उनकी भाषा नहीं। 'प्रसाद' के कण हैं किंतु गभीरता नहीं, इसलिये वह अभिनय योग्य नाटकों की श्रेणी में आ जाता है।

जितनी शीघ्रता से ये नाटक लिखे गये हैं उतनी शीघ्रता इनमें न की जानी चाहिये थी ताकि कथावस्तु का प्रयोग एवं प्रबंध योग्य और समुचित हो सकता। इसीलिये कहीं-कहीं लेखक की कला हीनता का परिचय स्पष्ट रूप से न केवल समालोचकों को किंतु साधारण पाठकों एवं प्रेक्षकों को भी हो जाता है। विशेष रूप से उनके यात्रियो एवं राहगीरों के कथोपकथन जो स्पष्ट रूप से कथावस्तु की पूर्त्यर्थ प्रयुक्त हुए हैं और सब नाटकों में, कथा-पूर्ति के मेरी दृष्टि में सबसे सरल एव निकृष्ट साधन हैं और कलाकार की महत्ता को बढ़ाने वाले नहीं।

सेठजी के नाटको से एक बात पर और हमारा ध्यान जाता है जो कि उपन्यास और नाटकों में अन्तर प्रकट करने वाली है। उपन्यासों में नाटकीय तत्वो का प्रयोग होते हुए भी उनमें इतिवृत्त, पूर्वकथन, लंबे वार्तालाप, लंबे दृश्य अथवा अध्याय हो सकते हैं किन्तु नाटक में इन सब बातों का प्रायः सर्वथा अभाव होना चाहिये। प्रेक्षक रंग मंच पर हजारों वर्ष पहिले की घटनाओं को भी ऐसा देखना चाहता है कि वे

उसके समक्ष इसी समय हो रही है। नाटक का मुख्य उद्देश्य भी यही है कि जो हो चुका है उसे वर्तमान कर दे। नाटकों मे भूत और भविष्य की जरा भी गुंजाइश नहीं। वह तो वर्तमान से ही ओत-प्रोत होना चाहिये। यही उसकी विशेषता एव उत्कृष्टता है। इससे वञ्चित होकर वह अपने मुख्य उद्देश्य से भी दूर फिंका जाता है। सेठजी की रचनाओं में भूत प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। पात्र भूत की ही अधिक चर्चा करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि वे वार्तालाप करने के स्थान पर पूर्व-घटित घटनाओं का कथन करके ही कथा वस्तु को आगे बढ़ाया करते हैं। वे इतिवृत्त कहते हैं। पात्रों को यह न कर वर्तमान घटनाओं में ही सक्रिय रहना चाहिये। यही रंगमंच के लिये उपयुक्ततम एक साधन तथा उपाय है। चित्रपट-कला के भारत में अभी एक सीमा तक ही उन्नत होने के कारण उसमें यह दोष आगया है और यही दोष सेठजी की रचनाओं में भी उतर आया है। यदि नाटक-लेखन में सेठजी ने अधिक समय दिया होता और मनन पूर्वक अधिक अवकाश दिया होता, केवल एक ही ओर लक्ष्य रख कर, तो हमारा ख्याल है सेठजी से ये त्रुटिएँ कम होतीं क्योंकि सेठजी की प्रतिभा में हमारा पूर्ण विश्वास है और हम यह भी जानते हैं कि उनका अधिकांश प्रयोग मानव-हितार्थ राजनीति में हुआ है। भविष्य में उनके लिये इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

सेठजी ने 'कर्तव्य' को दो खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम खंड में उनका उद्देश्य राम के आधुनिकतम चित्रण का है। द्वितीय में कृष्ण के चित्रण का इनके लिखने से स्पष्ट ज्ञात होता है

'कर्तव्य'

कि वे नाटक के क्षेत्र में इन दो महापुरुषों के सम्बन्ध में परमात्मीय भावना किस प्रकार जनता में प्राप्त हुई एवं किस प्रकार शनैः-शनैः वे परमात्मा कहे जाने लगे यह प्रकट करना चाहते हैं। साथ ही परमात्मीय पूर्ण भक्ति इन महापुरुषों में होते हुए भी, उनका

उतना ही आदर करते हुए भी वे उन्हें महापुरुष ही चित्रित कर उनके मानवीय महत्व प्रकट करना चाहते हैं और इन्हीं उद्देश्यों को लेकर भारत के इन दो अप्रतिम व्यक्तियों का उन्होंने चित्रण किया है। इसी-लिये उन्होंने उनके प्रचलित तथा प्रसिद्ध और विवादास्पद दोषों को उनमें मान कर उन दोषों के लिये स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है और जो भारतीय वातावरण में इस प्रकार की विचारधारा फैल और बढ़ रही थी उसका साहित्यिक रूप उन्होंने दिया है। किंतु राम के चरित्र-चित्रण में लेखक जितना सफल हुआ है और अपने को व्यक्त तथा स्पष्ट कर पाया है उतना कृष्ण के चित्रण में नहीं। अब तक के भारतीय-साहित्य का यह एक महान् दोष रहा है कि उसमें कृष्ण से महापुरुष का जिसका महत्व प्राचीन काल से राम की अपेक्षा अधिक समझा गया, जिसकी श्रेष्ठता सोलह कलाओं अर्थात् पूर्ण कलाओं से युक्त मानकर की गई और जो समस्त भारतीय पुरुषों में अद्वितीय महापुरुष मान लिया गया यथातथ्य और उसके अनुरूप जो उसके उतने ही महत्व को पूर्णरूप से व्यक्त कर सके ऐसा चित्रण, कुछ एक सीमा तक गीता, सूर-काव्य आदि को छोड़ कर, कहीं भी सफलता से नहीं हो सका है। यही बात कर्तव्य के द्वितीय खण्ड में भी हुई है। राम के समान कृष्ण का चरित्र महत्व, सफल, स्पष्ट और पूर्ण व्यक्त नहीं हो पाया है।

इसका कारण कदाचित राम के चरित्र की विशेषता हो। राम का चरित्र आदर्श है। भावना-प्रधान दुनियाँ अपने दोषों को न देखते हुए, उन दोषों को स्वीकार न करते हुए, उन्हें स्वाभाविक और सहज न समझते हुए आदर्श की ही पूजा करती है किन्तु वही उन आदर्शों में मानव-कल्याण के लिये यदि कतिपय अंगों एवं अंशों में च्युति पाती है तो वह उसे सह्य करने के लिये तैयार नहीं होती है। आज भी कतिपय दोषों से युक्त हम सद्गुणों के पुञ्ज (म० गांधी)

की अवहेलना कर रहे हैं। इसलिये राम के आदर्श चरित्र का जिसने चित्रण करना चाहा वह स्वयं ही सफल होता गया है और प्रतिभाशाली महासाहित्यकारो ने तो उन्हें अलौकिक रूप ही दे दिया किंतु कृष्ण के चरित्र की महत्ता प्रकट करना एक मनस्वी, अप्रतिम, मेधावी का काम है। वह अब तक मेरी क्षुद्र-दृष्टि में पूर्ण नहीं हुआ है।

कर्तव्य का पूर्वार्द्ध बड़े ही सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। राज्यारोहण के प्रथम की एवं कर्तव्य भार ग्रहण करने के लिये रामकी चिंता एव उनका जानकी से वार्तालाप बड़ा ही सरस है। ताड़का-वध संबन्धी उनकी आत्मिक-ग्लानि भी राम के योग्य है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे फिर भी उनसे कतिपय ऐसे कार्य हुए हैं जो साधारण और लोक-दृष्टि से समर्थनीय नहीं कहे जा सकते। ताड़का-स्त्री-वध यद्यपि गुरु सम्मत था किन्तु उनके हृदय के एवं लोक के विरुद्ध भी था। इसी प्रकार बालि के वध के लिये उन्हें दोष दिया जाता है। उसके लिये भी राम को बड़ा सकोच हुआ किन्तु लक्ष्मण की प्रेरणा, सुग्रीव की प्राण-हानि एवं उससे सीता-प्राप्ति-अर्थ अपनी की हुई प्रतिज्ञा की रक्षा करने के हेतु बड़ी हिचकिचाहट मे उन्होने बालि का वध किया। शायद कटु आवश्यकता वश ही ये दोनों वध उनके द्वारा हो सके। इन दोनों वधों में मर्यादा का भङ्ग कर सीता के प्रति, केवल पत्नी सीता के प्रति वे लोक को न ठुकरा सके, उस नारी के प्रति कोई न्याय वे न कर सके व दिखला सके। इस युग के मॉग की यह कमी 'कर्तव्य' में भी अखरती है। सीता के प्रति तो राम के द्वारा इस नाटक में अन्याय ही हुआ है ऐसा कहा जा सकता है। राम सीता से प्रेम करते हैं, सभव है वह सच्चा और हार्दिक भी हो किन्तु वह प्रेम केवल उनकी वाणी से ही प्रकट होता है, आचार से नहीं। बराबर वे ये प्रकट करते रहे हैं कि सीता को वे प्राणों से प्यारा समझते है और अन्त

मे उसके भूसात् हो जाने पर उनकी विह्वलता सच्ची विह्वलता है किंतु उनके आन्तरिक प्रेम का यथा साध्य चित्रण या स्पष्टीकरण नहीं प्राप्त होता है। वन-वन में सीता के प्रति भटकनेवाली बात बहुत पुरानी और मार्मिकता को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में असमर्थ हो गई है। राम ने रावण-विजय इसलिये नहीं कि सीता के प्रति उनमें अन्यय प्रेम था। रावण विजय तो उनका मनुष्य का अहंकार था। मनुष्यपन था। ताडका-वध और वालि-वध के समय की उनकी मर्यादा भग, सीता के सम्बन्ध में कर्तव्य बन जाता है। उन्होंने सीता का उद्धार केवल कर्तव्य प्रेरणा अथवा मर्यादा-रक्षा के लिये किया। उस सीता पर जिसने स्वप्न में भी राम के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टि नहीं की। राम भी जिसका हृदयतल से विश्वास करते हों उसके प्रति यह कहना "ठहरो मैथिलि, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं हो।" उनका अक्षम्य अपराध है जिसका जवाब राम के पास कुछ नहीं। लोक के सामने लोकाचरण करके भी सीता के प्रति पत्नी-कर्तव्य नहीं तो एक स्त्री के प्रति कर्तव्य का पालन तो राम सदृश मर्यादा पुरुषोत्तम से करवाना उचित था। इस पर लंका-दहन के पश्चात्, रावण-विजय के पश्चात्, सीतोद्धार के पश्चात्, सीता के उनके समक्ष आ जाने के पश्चात् उनका अपने घोर अन्याय का परिचय जन-समूह के सामने इस प्रकार देना, "बंधुओ! जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के समान हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गई पर पर-गृह में रही हुई स्त्री का चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिये सम्भव नहीं है, यह धर्म की मर्यादा-भङ्ग की अन्तिम सीमा है। मनुष्य की

विडंबना है, छल है। सीता को पत्नी न कह 'स्त्री' कहना घोर अन्याय है।

इसी प्रकार लेखक ने अग्नि-परीक्षा को आधुनिकतम रूप देने की चेष्टा की है। इस प्रसंग को वह छोड़ सकता था किंतु उसने अग्नि-परीक्षा के लिये सीता के उद्यत होने को ही राम द्वारा अग्नि-परीक्षा की समाप्ति करवा कर आगे के लिये सीता के प्रति अन्याय के अंकुर छोड़ दिये हैं। सीता पुनः निर्वासित होती है। पुनः रामाश्रय में वाल्मीकि ऋषि के आग्रह पर आना चाहती है यद्यपि उसका हृदय इसके लिये जरा भी तैयार नहीं, उसकी आत्मा उसे उसके लिये कचोटती है फिर भी सीता जाती है। राम द्वारा लोक-मर्यादा की बलिवेदी पर भेंट की जाती है। अग्नि-परीक्षा के लिये प्रस्तुत होती है। किंतु भूकम्प की सृष्टि कर एवं उसके साधन पहिले ही से इकट्ठे कर लेखक ने सामयिकता, सुरुचि एवं कलात्मकता की सुन्दरता, श्रेष्ठता और यथार्थता से रक्षा की है। इसीलिये 'कर्तव्य' के पूर्वार्द्ध का आदि और अन्त बड़ा ही अच्छा बन पड़ा है। मध्य इनके अन्दर सुन्दरता से जड़ा हुआ है और सीता के प्रति किये गये घोर अन्याय के मध्य राम का सतत मानसिक दुःख एवं 'कर्तव्य' के लिये घोर आत्म-तपस्या उनके निर्मल चरित्र एवं प्रेम को गन्दा नहीं होने देती है।

इसमें संदेह नहीं भाषा और भावों की दृष्टि से 'कर्तव्य' के उत्तरार्द्ध में वही सरसता, वही वाग्वैदग्ध्य एवं उसी प्रकार का प्रवाह पाया जाता है, किंतु ११ वर्ष के बालक कृष्ण से, उसे साधारण मानव-संतान ही मानकर, उच्च एवं प्रौढ़ विचारों का बुलवाना अवश्य अस्वाभाविक लगता है यद्यपि अरोचक नहीं, सरस और गंभीर है। अन्तिम दृश्य का कृष्ण का कथन अवश्य मार्मिकता, दार्शनिकता एवं परमात्मा की तटस्थ-वृत्ति का परिचायक है। और है एक महापुरुष की मृत्यु होने के प्रथम का संदेश।

किंतु समस्त मध्य भाग में कृष्ण का चरित्र वैसा नहीं निखर पाया है, न भव्य हो सका है जैसा कि लेखक चाहता है अथवा सोचता था। उसका उद्देश्य तो कृष्ण को ऐसे मानव के रूप में दिखाने का है जिसने साधारण होते हुए भी असाधारणता प्राप्त की। प्रारंभ में कम ध्यान दिये जाने के पश्चात् अन्त में जो राम के सदृश ही पूज्य, अवतार एवं महापुरुष हो सका। उसकी कतिपय त्रुटियों से मानव-कल्याण, राजनीतिज्ञता अथवा कोई विशेष उद्देश्य प्रकट नहीं होता। कला तो वास्तव में परोक्ष रह कर ही अपना प्रभाव पैदा करती है किंतु लेखक की कला इसमें बार-बार अपना उद्देश्य प्रकट कर देती है और वह भी नाटकीय वृत्ति के विरुद्ध इतिवृत्त के रूप में जो सर्वथा अवांछनीय होना चाहिये। कृष्ण का वह लोक-संग्रही और लोक-रक्षक रूप भी नहीं दिखाई देता जिसे लेखक प्रकट करना चाहता है। कृष्ण का जरासिंध से युद्ध में युद्ध-क्षेत्र के बीच से पलायन ऐतिहासिक होते हुए भी कलात्मक, सुन्दर अथवा दार्शनिक अथवा मानव-कल्याण प्रेरित पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। इसी प्रकार रुक्मणि-हरण, द्रौपदी-हरण में कृष्ण की सहायता एवं कुमारिकाओं को भौमासुर का बध कर मुक्ति कर उनसे उद्धार कर विवाह करना, ये प्रसंग भी साधारण घटनाएँ, प्रसंग अथवा सुधार-वृत्तियँ हैं और उस कोटि पर नहीं पहुँचती हैं जहाँ हम उन्हें साहित्यिक कह सकें। उनमें भाव प्रवणता की काफी कमी है। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को युद्ध में प्रेरित करने का उनका उपदेश उस महत्व को प्रकट करने में असमर्थ है जिसकी मार्मिकता एव दार्शनिकता हमें गीता में दृष्टिगोचर होती है।

कृष्ण का चरित्र-चित्रण करते समय अयोध्यासिंह उपाध्याय के पश्चात् सेठजी का चित्रांकण बड़ा सरस, यथोचित, विदग्ध और हृदय-ग्राही हुआ है। भोली राधा जो कृष्ण के लौकिक, शारीरिक रूप पर लुब्ध

हुई, जिसने शनैः शनैः हृदयार्पण कर दिया उसका भोलापन, भावों की सादगी, उसका कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम द्रष्टव्य है। धीरे-धीरे वह प्रेम-कांचन वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए निखरने लगता है। यहाँ तक वह उसका बाह्य-रूप देखने में भी सर्वथा असमर्थ हो जाती है, अनाघी बन जाती है। केवल आत्मा ही आत्मा की भक्ति, प्रेम वह देख पाती है। आत्मा का आत्मा में परमात्मा में एकाकार हो जाता है। वह विश्व में विश्वात्मा के दर्शन करती है। उसका कृष्ण उसके अणु-अणु में दिखाई देता है।

तीन नाटकों के पदों के संबंध में उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं उनसे ज्ञात होता है वे उन्ही के होना चाहिए किंतु इससे मेरा मत-भेद है। स्पष्टतया ये सूर एवं तुलसी के पद हैं अथवा छाया हैं और जिनका कोई निर्देश लेखक की ओर से किसी भी रूप में हमें नहीं मिलता।

प्रकाश और 'हर्ष'

'हर्ष' और 'प्रकाश' में लेखक की विशिष्ट प्रतिभा का परिचय मिलता है। प्राचीन आख्यानों एवं अति विश्रुत चरित्रों को लेकर जिस प्रतिभा ने अपना कार्य प्रारम्भ किया था वही 'हर्ष' में पुष्ट और 'प्रकाश' में स्पष्ट हो गई है। भाषा, शैली, वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इन नाटकों में कोई अन्तर नहीं है बल्कि वे ही बातें उसी प्रकार, उतने ही अच्छे, मँजे रूप मे दृष्टिगोचर होती हैं। कतिपय समान दोषों के होते हुए भी 'प्रकाश' उत्तमतर और 'हर्ष' उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

'हर्ष' को 'प्रसाद' का आधुनिक, व्यवहारोपयोगी अभिनय योग्य नाटक कह सकते हैं। उसमें 'प्रसाद' के शब्दों का चयन कहने का ढंग वही है भाषा का रूप भी उसी प्रकार का है, किंतु है वह सरल, जिसे प्रेक्षक सरलता से समझ सकें और हृदयंगम कर सकें। जो प्रभाव लेखक

प्रदर्शित करना चाहता है, जो प्रभाव वह उन पर छोड़ना चाहता है उसमे वह युक्त है। कहीं शिथिलता नहीं, कही दुरूहता नहीं। समरसता और प्रवाह समान रूप से प्राप्त होते हैं। 'हर्ष' के द्वारा सेठजी 'प्रसाद' के समकक्ष पहुँचने का दावा कर सकते हैं। इसमें 'प्रसाद' की त्रुटियों का बड़े ही सुन्दर ढंग से निराकरण हुआ है। फिर भी भाव-सौंदर्य में किसी प्रकार की कमी नही आयी है। 'प्रसाद' की कृतियो के समान ही भाव और शैली में 'हर्ष' एक सुन्दर अमर कृति है। 'प्रसाद' का सफल एव सुन्दरतम अथवा श्रेष्ठतम अनुकरण है। उनकी कृतियों का विकास है। वह कृति है जिसे कि हम 'प्रसाद' पढ़ते समय आकांक्षा करते हैं। 'प्रसाद' में जो हम देखना चाहते थे, सेठजी ने वही हमें 'हर्ष' के रूप में दिया है। इसके साथ ही वह अभिनय एव सिनेमा के योग्य भी बनाया गया है। यह उसकी एक अन्य विशेषता है। इसमें सन्देह नहीं एकादि स्थल पर इसमें अस्वाभाविकता आ गयी है किंतु वह इतनी कम है कि साहित्य के क्षेत्र में अलक्षित ही रहेगी।

'प्रकाश' उनका राजनीतिक नाटक है। इस प्रकार के नाटकों की आवश्यकता है और विशेषकर सिनेमाओं के लिये जिनमें जनता की अभिरुचि ऐसी ही आधुनिक कथावस्तु को देखने के लिये उत्कंठित रहती है। 'प्रकाश' को पढ़ते समय हमारा ध्यान लक्ष्मीनारायण मिश्र के गुण दोषो पर भी जाता है। मिश्रजी ने आधुनिक कथावस्तु को ग्रहण कर भावों में उत्तेजना, प्रबलता तीव्रता, शक्ति उत्पन्न कर दी है। उनमें सृजन-क्रियात्मकता बडे ही प्रबल रूप में है। उनके नाटकों मे अभिनय योग्यता अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होती है। उनके पात्र, उनका चरित्र-चित्रण पाश्चात्य एवं नवीन ढंग पर है, है किंतु भारतीय। पात्र कम और समस्याएँ अधिक है। हृदय द्वंद्वो की कशमकश अति स्वाभाविक, मस्तिष्क

'प्रकाश'

एवं विचार-धारा को मथन एवं विक्षुब्ध करनेवाली है किंतु भाषा, भाव-प्रकाश एवं वस्तु-विन्यास की दृष्टि से मिश्रजी सर्वथा असफल हुए हैं। उनकी सामग्री अपरिपक्व मस्तिष्क की उपज है। सुचिंतित नहीं है। एक अविवेकी युवक की तीव्र विचारधारा है जो सत्य और सदुद्देश्य समन्वित है किंतु जिसने अभी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं की है। उसने वह वस्तु अभी मस्तिष्क पर बराबर जमाई नहीं है। उसने जो प्रभाव, जो विचार जो द्वन्द्व, जो विलोड़न विश्व से प्राप्त किये अथवा उसके मस्तिष्क में उद्भव हुए उन्हें उसने उसी सत्य के रूप में देने की चेष्टा की है। यह साहित्य सृजन की प्राथमिक अवस्था का दिग्दर्शन है। प्रौढ़ता का नहीं। विकास का प्रारंभ है। साहित्य में सूक्ष्म रूप से हम यह चाहते भी हैं कि हमें लेखक अपने अनुभवों का विश्व से सामंजस्य, नवीन समस्याओं का उद्भव ही न दे, उन पर उसकी सुचिंतित, सुव्यवस्थित सम्मति भी दे। प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परोक्षरूप से। मिश्रजी में इनका अभाव और सेठजी में इनका प्रादुर्भाव पाया जाता है। सेठ जी ने भी 'प्रकाश' के चिंतन, व्यवस्था, प्रौढ़ता एवं सुपरिपक्वता के लिये बहुत कम समय दिया है। साहित्य के क्षेत्र में कोई लेखक यह कह कर नहीं छूट सकता कि उसे कम समय मिला इसलिये वह ऐसा लिख सका। कोई चिंता नहीं वह थोड़ा या कम लिखे। कौन नहीं जानता कि गुलेरी जी की 'उसने कहा था' नाम की एक ही कहानी कहानी-साहित्य की एक अमर चीज़ है जिसमें समस्त कहानी गत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

'प्रकाश' के अंतर्गत प्रकाश का चरित्र जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका यद्यपि वह नाटक का प्रधान पात्र है। उसका चित्रांकण घटना प्रधान हो गया है। यही नहीं वह अस्वाभाविक भी हो गया है तथा अस्पष्ट भी। युवक से नेता बन जाना एक समय अवश्य सरल हो गया था। यह

बात सत्य है किंतु उसका चरित्र तथा घटनाओं का समन्वय ऐसा होना आवश्यक था जिससे उसके चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता। वह प्रथम उच्छृङ्खलसा ग्रामीण नवयुवक था। धीरे-धीरे कतिपय उसकी विचारधाराओं एव जन-पत्त की हित-कामना ने उसे नेता बना दिया। उसमें युवकोचित अपूर्ण गंभीरता है अथवा गम्भीरता और उत्तर-दायित्व का चित्रण बराबर नहीं हो पाया है। इसी प्रकार उसके तथा तारा के चरित्रों में लेखक मातृ-पुत्र-प्रेम को चित्रित करना चाहता है किंतु वह भी अस्वाभाविक हो गया है। प्रकाश के चरित्र को विशिष्ट रूप से चित्रित करनेवाले तीन दृश्य हैं। एक तो वह जब वह प्रीति-भोज में ही व्याख्यान देने लगता है और गवर्नर से समर्थन पाता है। बीच में दो लम्बे दृश्य और हैं जहाँ माता-पुत्र की बात-चीत होती है। ये अरोचक और इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। नाटकीय घटनाओं के तीव्र प्रवाह के योग्य नहीं। यहाँ अस्वाभाविकता आ गई है। माता का पुत्र-प्रेम ऐसी वस्तु नहीं जिसे वह कह-कह कर प्रकट करे। कहने से उसका महत्व, गुरुता कम हो जाती है। वह न कहा हुआ ही दिखाना अच्छा और कलात्मक होता है। क्रिया-कलापों से दिखाना उचित है। इन्दु उर्फ तारा का चरित्र भी कुछ तो प्रकाश-सा ही अस्वाभाविक है किंतु बाद में वह मातोचित हो गया है। विशद पुत्र प्रेम तथा आत्म-गौरव का परिचायक है। प्रकाश के पकड़े जाने की सूचना पर उसका मातृत्व तिलमिला उठता है। राजा अजयसिंह के यहाँ जिन्हें वह छोड़ चुकी थी आत्म-गौरव रक्षणार्थ पहुँचती है। रानी कल्याणी से, क्योंकि वह भी नारी थी, अपने वर्षों के छिपाये हुए रहस्य को खोल देती है। प्रकाश और तारा के चरित्रों में माता और पुत्र के प्रेम को चित्रित करने के लिए ऐसी ही घटनाओं की आवश्यकता थी।

इसी प्रकार सर भगवानदास और लेडी लक्ष्मी के चरित्रों के दो पहलू हैं। एक अच्छा और दूसरा नहीं अस्वाभाविक। सर भगवानदास मारवाड़ी और लेडी लक्ष्मी पूर्विया सी मालूम पड़ते हैं। इन दोनों का गठ-बन्धन बड़ा भौंडा है। लेडी लक्ष्मी पुरवैया भाषा बोलती है, इससे तो कोई नुकसान नहीं किंतु उससे सर भगवानदास का पुरवैया में न बोल कर साधारण हिंदी अथवा मारवाड़ी में बोलना चाहे वे तुतलाती बोली ही में क्यों नहीं बोलते हों संगत नहीं। पात्रों में विषमता तो उचित है किंतु वह यहाँ भौंडी हो गई है।

दूसरा पहलू बड़ा ही सुन्दर हो गया है। इन पात्रों की नाट्य-कथा वस्तु के साथ सृष्टि कर लेखक ने उच्च कोटि का साहित्यिक हास्य पाठकों को दिया है जो आदर्श है। इस प्रकार का हास्य हिंदी नाट्य-साहित्य में इतनी सुन्दरता से कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह सेठजी की प्रतिभा का एक अच्छा उदाहरण है।

इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों का चित्रण यथातथ्य है। कथा-वस्तु एवं पात्रों के चरित्र चित्रण की दृष्टि से सेठजी यहाँ प्रेमचन्द के समकक्ष पहुँच जाते हैं। घटनाओं का सृजन कर प्रेमचन्द जिस प्रकार आधुनिक चरित्रों का जैसा का तैसा चित्र खींच देते हैं और हमें यह ज्ञात होने लगता है कि ये सब पात्र हमारे परिचित हैं, देखे-सुने हैं, वैसे ही सेठजी के 'प्रकाश' के पात्रों का हाल है अथवा इस प्रकार के सब चरित्र हमारे परिचित-से मिले-भेंटे से ज्ञात होते हैं। सब पात्र सच्चे और घटनाएँ अकल्पित ज्ञात होती हैं। कला की यही विशेषता है। ये सेठजी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देती हैं।

राजा अजयसिंह एक बिगड़े रईस हैं। सम्पत्ति का अधिकांश व्यय हो गया है किंतु रईसी की पुरानी भावना और तदनुरूप खर्च अब भी

बना हुआ है। जानते-बूझते हुए भी अवनति के मार्ग पर फिसलते जा रहे हैं। अपनी बात, शान व शौकत रखने के लिये धन-व्यय करना अपना कर्तव्य समझते हैं। अधिकांश जमींदारों की यही तो वास्तविक स्थिति है। रानी कल्याणी के समझाने पर भी जमींदारी का मोह नहीं त्यागा जाता। उधर रानी कल्याणी है, जो हिन्दू नारी का प्रतीक है। जमींदारी त्याग कर भी शान्त जीवन का पथ ग्रहण करती है। हिन्दू आदर्शों को कायल है। राजा अजयसिंह के हृदय में प्रकाश के प्रति पुत्र-प्रेम उमड़ता है किंतु वे प्रमाणों के अभाव में उसे प्यार नहीं कर सकते और जब ज्ञात हो जाता है कि वह उनका ही पुत्र है तब उसको प्यार करना पार्थिव दृष्टि से असंभव हो जाता है। उनकी ही झूठी दरख्वास्त पर वह बन्दी बनाया जाता है। उन्हें ज्ञात होता है कि वह उसका पुत्र है तब जब कि वह बन्दी हो जाता है और उसे छुड़ाना उनके हाथ की बात नहीं रह जाती। यद्यपि उनकी झूठी दरख्वास्त उनसे बल पूर्वक दिलाई जाती है। साधारणतया वे आधुनिक जमींदारों के समान ही दुर्बल हृदय हैं, चारों ओर से जकड़े हुए हैं।

सर भगवानदास एक धनसम्पन्न, लोभी व्यापारी हैं जिनका सर्वस्व धन के अतिरिक्त कुछ नहीं। अन्य बातें उनके लिए गौण हैं। अपने पुत्र के प्रयत्न से अयोग्य होते हुए भी, तोतली जबान के होते हुए भी, केवल सम्पत्ति के कारण 'सर' की पदवी पाते हैं। विलायत यात्रा के विरोधी हैं किंतु उससे जब धन सम्मान मिलता है तो उन्हें कोई एतराज नहीं। भारतीय आदर्श चाहते हैं। पुराने फैशन की पोशाक पसन्द करते हैं किंतु यदि कोट-पैंट से साहब लोगों, सरकारी अफसरों से यदि अपना काम निकाला जा सकता है तो उन्हें इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। इन्हीं कारणों से वे पुत्र के आज्ञाकारी, अनुचर और अनुगामी हैं। लेडी लक्ष्मी जो पुराने ढंग की एक पुरबिया स्त्री है, लड़ाकू है और उन्हें

यत्रतत्र, मौके-बे-मौके खरी-खोटी सुना देती है, का उनसे संबंध करवा कर लेखक ने सुन्दरता से हास्य का ही दिग्दर्शन नहीं कराया है किंतु इस प्रकार भारतीय घरों में जहाँ प्राच्य-पाश्चात्य का सम्मेलन हो रहा है, इसी प्रकार की विषमता रहती है, इसका यथार्थ चित्रण किया है।

सर भगवानदास का पुत्र मि. दामोदरदास गुप्ता एक विलायत भ्रमण किया हुआ चलतापुर्जा युवक है जिसमें पाश्चात्य कूटनीति, उसी प्रकार का व्यवहार उसी प्रकार की कार्य-प्रणाली कूट-कूट कर भरी हुई है। अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार से धन प्राप्त करना उसका लक्ष्य है जैसा कि यथार्थ में कई धन-प्रिय मनुष्यों का रहता है। उसकी पत्नी रुक्मिणी के आग्रह पर वह अनुचित रूप से राजा अजयसिंह से 'हाथ जोड़ कर क्षमा-याचना' करवाता है। प्रकाश को बिना किसी इल्जाम के कैद करवाता है।

माननीय धनपाल ऐसे मिनिस्टरों के प्रतीक हैं जो वर्तमान काँग्रेस-शासन एवं अनुशासन के प्रथम काँग्रेस के टिकिट पर धारा-सभाओं में घुसे और वहाँ पहुँच काँग्रेस को धोखा देकर, सरकार से मिल कर मौज मारने लगे और जनता को भुलावे में रखने के लिये खादी-पोशाक नहीं छोड़ी।

पण्डित विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख्श ऐसे स्वार्थी, बनावटी नेता हैं जो हिंदू-मुस्लिम हितों के नाम पर अपना स्वार्थ-साधन किया करते हैं। जनता की भावनाओं को उभाड़ कर अपना काम बनाया करते हैं। जिनका काम कौंसिलों एवं म्यूनिसपैलिटियों में स्वार्थ-वश मिलकर चाँटना खाना और बाहर जनता की सिर फुटौवल का आनन्द उठाना है।

'हिंदुस्थान'-पत्र का संपादक, कन्हैयालाल वर्मा, एक परिस्थितियों से लाचार संपादक है। किसी समय, उसमें भी देश के प्रति,

न्याय और नीति के प्रति प्रेम रहा होगा; सदुद्देश्यों, सत्कार्यों आदर्शों मे प्रेम रहा होगा किंतु समय ने उसे सिखा दिया कि भाई समय देख कर अपना रुख रखा करो। जिस जनता के लिये तुम काम करते हो वह तुम्हारे महत्व को नहीं समझती है। 'भेंड़नि की धसनि' है। अपनी बात बनाते हुए अपना पेट चलाते रहो।

डॉक्टर नेसफील्ड एक धूर्त बैरिस्टर है। पाश्चात्य नीति, धन को प्यार करनेवाला। सदाचार का वह कायल नहीं। भतीजी मिस थेरिजा का उपयोग, उसके नारीत्व का उपयोग वह धन प्राप्ति के लिये करने में कोई हानि नही देखता। यदि उसके नारीत्व से धनपति मि दामोदर दास गुप्ता उसके सकेतों पर चल सकते हैं, उनसे उसे धन की प्राप्ति हो सकती है तो उसे किसी प्रकार का एतराज ही नहीं है। वह तो थेरिजा से नारीत्व के नाम उसे अपने चंगुल में फँसाये रखने की चेष्टा करता है। मिस थेरिजा भी अपने काका के अनुरूप है क्योंकि जिस वातावरण में वह पली है उसमें इस बात के अतिरिक्त अन्य भावना और सस्कार आ ही नहीं सकते थे। इन्हीं सस्कारो के कारण वह मिस होते हुए भी विवाहित दामोदरदास गुप्ता की अंक-शायिनी भी हो गई।

मनोरमा और सुशीला दो सखियें हैं। सुशीला का स्थान मनोरमा के चित्रण के लिये ही है। मनोरमा का प्रकाश से प्रथम-दर्शन-परिणय हो जाता है। इस अवस्था में जो प्रेमांकुर नव-युवक-युवतियों में उठा करते हैं वही अंकुर उसमें भी जाग्रत स्वाभाविक रूप से हो गये हैं। किंतु उसके यौवनोचित्त प्रेम की धारा बड़ी ही निर्मल और आदर्श रूप में अंत तक बढ़ती रही है, वह बढ़ती और फैलती रही है; दृढ़ होती है किंतु उसमें वासना का लेश तक नहीं आया। इसका कारण उसका भारतीयता, 'प्रकाश' के सिद्धांतों और आदर्शों से प्रेम तथा समान विचार ही थे।

सेठजी का 'हर्ष' एक सुन्दर कला-कृति है और इसमें उनकी अब तक की प्रतिभा का पूर्ण परिपाक हुआ है। यह एक सुचिंतित रचना है।

'हर्ष' इसमें भाषा का वही मध्य-प्रांतीय सौंदर्य, मधुरता, कहने का ढग है। वही एक रस, सतत एकसा बहनेवाला प्रवाह है जो 'कर्तव्य' और 'प्रकाश' में है। इसमें ऐतिहासिक भारतीय गौरव की रक्षा करनेवाली सामग्री का सुप्रबंध, आदर्श और कल्पना का हितकर प्रयोग समीचीन ही हुआ है। इसके चरित्र ही भव्य नहीं हैं किंतु उनकी भव्यता में, उन्हें उस रूप में रखने का श्रेय लेखक को भी है। 'हर्ष' केवल ऐसा ऐतिहासिक नाटक नहीं है जिसमें कोरा इतिहास ही इतिहास हो अथवा इतिहास साहित्य से सम्बन्धित न हो। ऐतिहासिक होते हुए भी यह आधुनिकता और आधुनिक राजनीति एव परिस्थिति का ज्ञापक है। इसमें 'प्रसाद' सी पृष्ठ भूमि है किंतु अभिनय-योग्यता के लिये जितनी कम गभीरता की जरूरत होना चाहिये उतनी ही इसमें प्राप्त होता है और वाह्य उपकरणों का यथायोग्य प्रदर्शन तो सिनेमा के लिये भी सर्वथा उतना ही उपयुक्त है जितना स्टेज के लिये। प्रसाद' के समान पात्रों की पदवियें हैं अवश्य किंतु 'प्रसाद' में हम जितने दोष अभिनय की दृष्टि से पाते हैं उनका निराकरण इसमें भली भाँति हुआ है। इतिहास प्रसिद्ध उचित घटनाओं का सङ्कलन है। राजनीतिक चालों और उथल-पुथलों, एकतंत्र शासन एव प्रजातत्र शासन, सार्वभौमिकता अथवा चक्रवर्तित्व का सिद्धांत एवं 'भारत एक और अखंड है' इस भावना की विशद व्याख्या एवं इसके लिये सतत प्रयत्न, ब्राह्मणों एवं बौद्धों का संघर्ष, उस काल की एवं आधुनिक काल की मूल भावनाओं का मजुल सामञ्जस्य इस कृति में बड़े ही विशद एव स्पष्ट रूप से हुआ है। कहीं शिथिलता नहीं, कहीं इसी लेखक के अन्य नाटकों के समान इतिवृत्त कहने की प्रणाली नहीं और उतने

ही भौंडे रूप में यात्रियों अथवा 'पहला', 'दूसरा', 'तीसरा', 'चौथा' आदि का कथा पूर्त्यर्थ संभाषण भी इसमें नहीं है। कथावस्तु व्यवस्थित, पात्रों का चरित्र सुधारा हुआ अथवा सँवारा हुआ, घटनाओं का सकलन समीचीन हुआ है। नाटक ऐतिहासिक होता हुआ भी आधुनिक अथवा राष्ट्रों की नीति एवं राजनीति पर एवं आदर्श नरेशों एवं राष्ट्रों के सद्-सद् प्रयत्नों पर भी समुचित प्रकाश डालता है। हर्ष वर्द्धन और माधव गुप्त की आदर्श मित्रता का सुन्दरतम दिग्दर्शन इसमें हमे दिखाई देता है जो न्याय की भावना का प्रबल पोषक है।

हर्ष इस नाटक का प्रधान पात्र है। वह एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसका झुकाव स्वात्म-प्रेरणा एवं अपने मित्र माधव गुप्त के प्रभाव के कारण बौद्धधर्म की ओर है। वह ससार और सिंहासन से विरक्त है, निर्मोह है किंतु आवश्यकता एवं कर्तव्य तथा उसके मित्र की प्रेरणा एवं परिस्थितियो की पुकार उसे राज्य-सूत्र ग्रहण करने के लिये वाध्य कर देती है। वह राज्य-सूत्र इसलिये ग्रहण नहीं करता है कि मान सम्मान चक्रवर्तित्व प्राप्त कर दूसरों पर अपनी प्रभुता का सिक्का जमावे किंतु उसका आदर्श भारत में भारतीय संस्कृति की रक्षा, भारत को सांस्कृतिक एव राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र में पिरोना है। समस्त भारत में साम्य-स्थापना करना है। जन समूह को अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का है। स्त्रीत्व के आदर्श को ऊँचा करने का एवं स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने का है। युद्ध उसे इसलिये प्रिय नहीं कि उसके साम्राज्य में विस्तृत लंबा-चौड़ा भू-भाग आजाये किंतु इसलिये कि भारतीय एकता एवं केंद्रीय-शासन की सुदृढता के लिये वे आवश्यक थे। वह वीर भी है किंतु उसकी वीरता अनुचित वल प्रयोग के लिये नहीं, निर्बल राष्ट्रों को दबाने के लिये नहीं, उनकी समृद्धि के लिये है। सब धर्मों के अनुयायियों को सर्वस्व दान कर वह त्याग एव धार्मिक एकता का उच्चतम आदर्श

हमारे सामने रखता है। फिर भी हम देखते हैं कि उसके सद्प्रयत्नों का इच्छित अथवा जैसा चाहिये वैसा फल नहीं निकलता और स्वार्थ एवं धार्मिक उन्माद के कारण वे पूर्ण सफल नहीं होते। हर्ष के प्रयत्न के रूप में लेखक ने हमारे मस्तिष्कों को, विचारकों एवं राजनैतिक नेताओं के मस्तिष्कों को विचारने के लिये समस्याएँ रखी हैं। जो आज भी उतनी ही पेंचीली, विकट और प्रखर बनी हुई हैं। उसका सर्वस्व त्याग भी जन समूह के एक भाग को सतुष्ट करने में असमर्थ रहता है जैसा कि आजकल काँग्रेस के साथ हो रहा है। आज भी केंद्रीय शासन को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न जारी है किंतु सफलता एक दूर की वस्तु दिखाई दे रही है। ये समस्याएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। केंद्रीय शासन के निर्बल होते ही प्रांतीयता का जोर बढ़ जाता है जो भारतीयता के लिये कभी हित कर नहीं हुआ और न होगा। आदित्य को जो उसके प्राणों का ग्राहक था, क्षमाकर, क्षमाशीलता का भी श्रेष्ठ उदाहरण हर्ष हमारे सामने रखता है। जीवन भर अविवाहित रह कर अपने चारित्र्य को नितांत निर्दोष निष्कलक रखना उसके आत्म-सयम एवं शक्ति का परिचायक है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दूसरा स्थान गुप्त-वंशी माधव गुप्त का है। वह हर्ष का मित्र, सहायक और मस्तिष्क है। इसमें संदेह नहीं गुप्तवंश के अवशेष और ह्रास पर वर्द्धन वंश ने अपनी सत्ता स्थापित की एव हर्ष ने अपना साम्राज्य स्थापित किया किंतु विचारशील, सहृदय, न्याय पक्ष के समर्थक एवं हर्ष का सच्चा हितेच्छु माधव का हृदय हर्ष के प्रति निष्कपट रहा। उसमें द्वेष का अभाव रहा बल्कि इसके स्थान पर प्रेम, और उसकी कल्याण-कामना ही सर्वोपरि रही वास्तव में माधव गुप्त का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल अंकित किया गया है। हर्ष के अतिरिक्त किसी का भी उस पर विश्वास नहीं। हर्ष के लिये

आत्मार्पण करने की इच्छा होते हुए वह हमेशा हर्ष के अतिरिक्त अन्य लोगों के द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा गया। ऐसी अवस्था में एक महान् आत्मा, एक कर्मठ मनस्वी के अतिरिक्त और कौन अपनी नौका सफलता, विद्वत्ता, लगन और अपने मित्र की हित कामना सहित खे सकता है? माधव ने इन्हीं परिस्थितियों में अपना पथ आगे बढ़ाया, हर्ष को अपना कर्तव्य सुझाया, उसकी प्राण-रक्षा की। उसके प्रति कर्तव्य पालन के समक्ष अपने पुत्र के प्राणों को भी तुच्छ समझा। उसको सद् एवं सामयिक सम्मति देकर हर्ष के महत्व को चमकाया।

हर्ष से उसका प्रेम इसलिये नहीं रहा कि वह एक राजपुत्र एवं सम्राट् था अथवा उसका उससे कोई स्वार्थ था किन्तु इसलिये कि वह उसका बालसखा था और उससे उसे सच्चा प्रेम था; हर्ष में उसे महानता के गुण दिखाई देते थे और वह चाहता था कि उसकी महानता बढ़े, विकसे और भारत-कल्याणकारी हो। ऐतिहासिक दृष्टि से हर्ष महान् और माधव अपरिचित है किंतु सेठजी की लेखनी द्वारा उसका चरित्र विशद और अमर बन सका है। महापुरुषों की महानता ऐसे ही सहयोगियों की सहायता पर निर्भर रहती है। ऐसे ही कर्मठ अनुयायियों की सेवाओं, साधनाओं और लगनों से उन्हें सफलता मिलती है यद्यपि प्राण और प्रेरणा ऐसी महान् आत्माएँ ही दिया करती हैं।

राज्यश्री के विवाह का चित्रण करना लेखक का उद्देश्य नहीं उसका चित्रण केवल हर्ष के संपर्क से ही आवश्यक था। उसके चित्रण से हर्ष की स्त्री संबंधी भावना व्यक्त होती है एवं उसके महान् त्याग का परिचय मिलता है। इसी प्रकार चीनी यात्री ह्वेनचांग का चरित्र भी प्रासंगिक है। अन्य चरित्र भी हर्ष के चरित्र-चित्रण, एवं उसके विश्लेषण के लिए एवं तत्कालीन परिस्थितियों के निदर्शन के लिये उपयुक्त रूप से प्रयोग

में आये हैं। इनमें शशांक और आदित्य के चरित्र नाटक, संघर्ष, विरोध-पक्ष आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

शशांक ब्राह्मणों का पक्ष ग्रहण कर बौद्ध धर्म का विरोधी गुप्त वंशी राजा है। वह इसी विद्वेष भावनावश एवं अपने वंश एवं राज्य की वृद्धि के लिये तथा गुप्तवंश की पूर्व स्थिति, और समृद्धि के लिये राज्यवर्द्धन का वध करता, हर्ष का कपट-पूर्ण हृदय से आधिपत्य स्वीकार करता और अन्त में उसका विरोध करता है। बोधिवृक्ष कटवाता एवं हर्ष वध का षड्यन्त्र रचता है। इसी के समान आदित्य सेन भी जो माधव का पुत्र है अपने पिता से घृणा करने लगता है, गुप्तवंश के पुनर्स्थापन एवं समृद्धि के स्वप्न देखता है और हर्ष विरोधी पक्ष को ग्रहण करता है।